पाषाणी

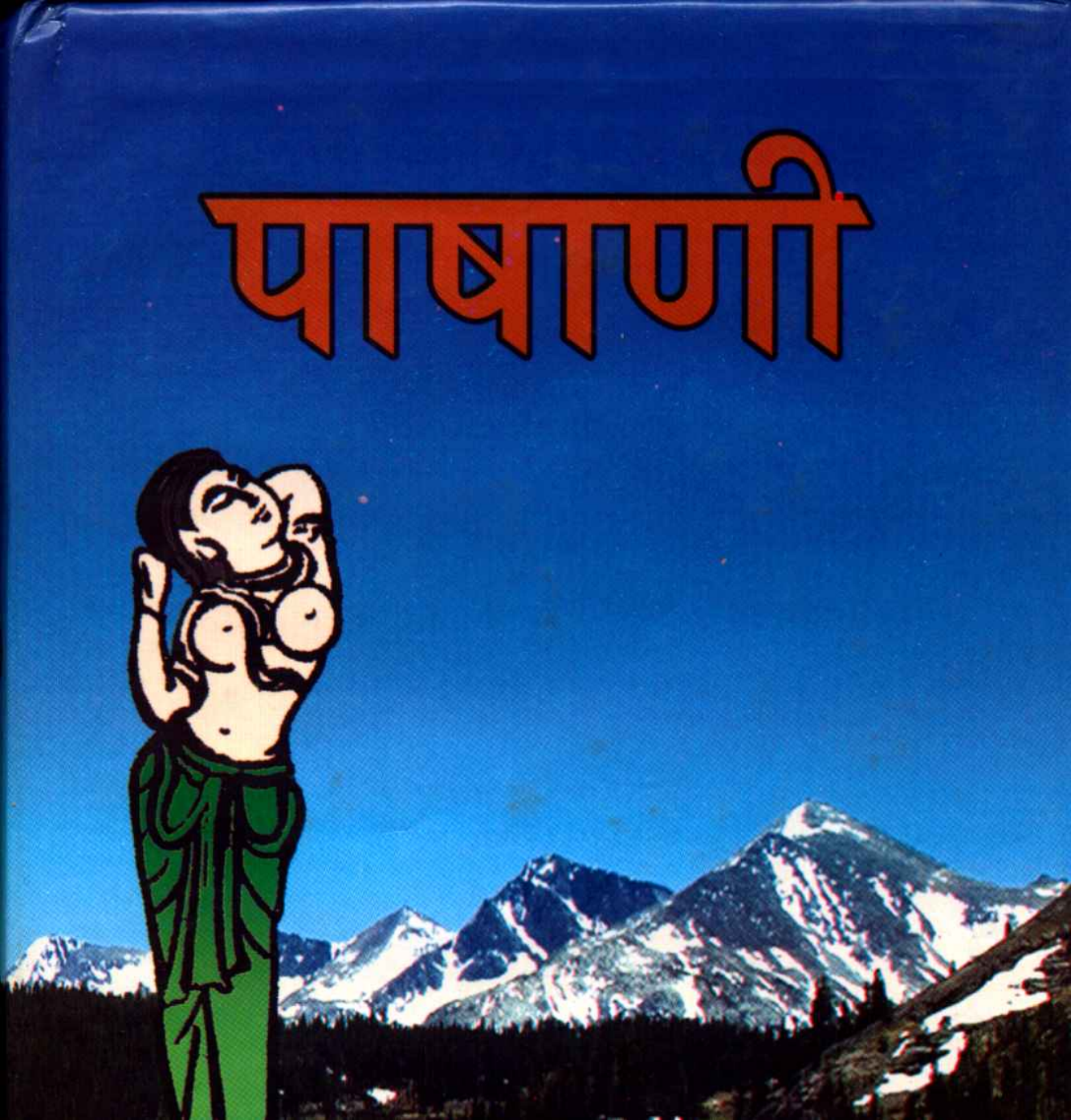

हिन्दी के मूर्द्धन्य कवि, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री की यह कृति हिन्दी गीति-नाट्य कला की एक महत्त्वपूर्ण देन है। इसमें पाँच संगीतिकाएँ ठीक उसी क्रम से संग्रहीत हैं, जिस क्रम से इनकी रचना हुई थी। आकाशवाणी से इनका प्रसारण पर्याप्त प्रशंसाएँ प्राप्त कर चुका है। ईषत् संशोधनों के साथ रंगमंच पर भी इन्हें सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं। जीवन की गम्भीर घटनाएँ, मार्मिक अनुभूतियाँ और तीव्र मानसिक संघर्ष इन काव्य-नाटकों के उपादान हैं, अत: अपनी वस्तुगत विश्वसनीयता तथा सहज भाषा तथा अभिनव शैली के कारण ये कलागत प्रौढ़ता के अप्रतिम उदाहरण बन गये हैं।

पाषाणीं

पाषाणी

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

जयभारती प्रकाशन
इलाहाबाद

ISBN 97-8-81-89924-17-1

जयभारती प्रकाशन
267 बी, माया प्रेस रोड
इलाहाबाद 211003 द्वारा
प्रकाशित

प्रथम संस्करण 2008

लेजर कम्पोजिंग
प्रयागराज कम्प्यूटर्स
13, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

मुद्रक
श्री मारुति प्रिन्टर्स
13, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

मूल्य :
पु० सं० 120.00

जिनके जीवन्त अभिनयों द्वारा काव्य-नाटकों में वर्णित रसों से
मेरा प्रथम-प्रथम सदेह साक्षात्कार हुआ;
संश्लिष्ट भावों की मार्मिक अभिव्यंजना में
जिनकी अद्वितीयता आज भी अछूती है; जिनके विराट् व्यक्तित्व में
निराला के काव्य की उदात्तता समाहित हो गयी है
और जिनके स्नेह-समादर की सुरभि-भरी शीतल छाया में
मेरा मस्तक फिर-फिर झुक जाता है,
—रङ्गमञ्च और रजतपट के महान् चरित्र-नायक उन्हीं स्वनाम-धन्य—

श्री पृथ्वीराज जी कपूर

के कर-कमलों में

सविनय समर्पित

प्रस्तुत

हिन्दी की गीति-नाट्य-कला को 'पाषाणी' मेरा प्रथम उपहार है। इसमें पाँच संगीतिकाएँ ठीक उसी क्रम से संगृहीत हैं, जिस क्रम से इनकी रचना हुई थी। आकाशवाणी से इनका सफल प्रसारण पर्याप्त प्रशंसाएँ प्राप्त कर चुका है और मुझे विश्वास है, ईषत् संशोधनों के साथ समृद्ध रंगमंच पर इनका अभिनय भी सहृदय-समाज को तद्वत् आवर्जित करेगा।

'गंगावतरण' से 'मंजरी' तक इसमें यथासंभव विशुद्ध एवं परिमार्जित भाषा का ही प्रयोग किया गया है; किन्तु देश, काल तथा पात्र के अनुसार उसमें भी कुछ-न-कुछ तारतम्य दृष्टिगत होगा। यहाँ तक कि एक पात्र प्रत्येक मनःस्थिति में एक ही प्रकार की 'उद्धरणीय' अभिव्यक्ति नहीं देता, यह व्यतिक्रम मैंने अनुभूत सत्य के सहारे उपस्थित किया है।

नाटक की 'ख्यातवृत्तता' के क्रम में यहाँ यह संकेत अनावश्यक न होगा कि संग्रह के चार गीति-नाट्यों का रस अतीत है, जिसे साकार करने के निमित्त तात्कालिक परिवेश के अनुरूप भाषा-संस्कार अपेक्षित था। हाँ, 'वासन्ती' की रचना वर्तमान वातावरण में हुई है, तभी उसके पतझड़ आदि कुछ पात्र मिश्रित भाषा का बेधड़क प्रयोग करते हैं।

इब्सन और शॉ की-सी तीखी और चुस्त शैली में सामाजिक गीति-नाट्य लिखे तो जा सकते हैं और तमसा में वैसी एक रचना—'आदमी' मैं दे भी रहा हूँ; किन्तु मेरा मन यह नहीं मानता कि आधुनिकता के नाम पर आग्रहपूर्वक सर्वत्र उन्हीं की अनुवृत्ति की जानी चाहिए।

वस्तुतः भाषा की अलंकृति-अनलंकृति स्थिति-सापेक्ष है और मुझे सन्तोष है कि मेरी अलंकृत भाषा अधिक आवेगपूर्ण है।

छन्द के सम्बन्ध में मेरी मान्यता है कि अन्त्यानुप्रासों ने मेरे भाव-प्रवाह को कहीं आकुलित नहीं किया है। पद्य-बद्ध परिसंवादों में जैसी तीव्रता संभव है, मेरे छन्दों में भी है।[1] जिन्होंने संस्कृत के श्लोकों के समान

---

1. तप रहा था मैं न अपने हेतु; स्वर्ग का रचता रहा मैं सेतु—
पर्व पुरुषों के लिए,—जो हाय, कपिल की क्रोधाग्नि में असहाय—

अन्त्यानुप्रास-रहित छन्दों का प्रयोग किया है या शेक्सपियर के नाटकीय छन्दों से प्रभाव ग्रहण किया है अथवा माइकेल, गिरीशचन्द्र, ईलियट आदि से प्रेरणा प्राप्त की है, वे आदर्श हो सकते हैं; किन्तु मैंने अपनी अभी तक की नाट्य-रचनाओं में 'संगीतिका' की शाब्दिक सार्थकता को लक्ष्य करते हुए जैसे, गेय पदों ही क्यों, परिसंवादों के लिए भी अन्त्यानुप्रासों की अनिवार्यता-सी स्वेच्छया स्वीकृत की है। जिन्हें पूर्वाग्रहवश इनमें अस्वाभाविकता की प्रतीति हो, उनसे मेरा विनम्र निवेदन होगा कि आत्यन्तिक स्वाभाविकता तो कदाचित् ठेठ गद्य-नाटकों में ही सुरक्षित रह सकती है, संगीतिका के अपने आयाम और सीमाएँ हैं।

परिसंवादों के अतिरिक्त यथास्थान जो गीत आये हैं, उनमें राग-रागिनियों की अनुरूपता सन्धेय है। प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल अथवा रात्रि के किसी विशेष प्रहर में जिस राग-रागिनी का स्वर-सौन्दर्य वातावरण के रन्ध्र-रन्ध्र को भरता या ऋतु-जनित उच्छ्वास-उल्लासों को मुखर करता है, उसका सम्यक् प्रयोग मैं कर सकूँ, इसकी प्रबुद्ध-अप्रबुद्ध चेष्टा सदा रही है। राग के स्वर जिस रस की ओर इंगित करते हैं, मेरे गीत के शब्द उसे ही मूर्त करने के प्रयासी रहे हैं। गीत-संगीत की पृथक्-पृथक् दिशाएँ मुझे प्रिय नहीं हैं।

केवल एक रात की कहानी 'पाषाणी' में है। अतः संध्या से प्रातःकाल तक की रागिनियों में ही उसके सारे गीत बँधे हुए हैं। 'पावन वन-अंचल में क्योंकर चंचल मन का दीप'—यह आरम्भिक गीत जैसे दीप जलाने की वेला को दृश्यों द्वारा नहीं, इमन के स्वरों द्वारा प्रदर्शित करता है, वैसे ही आगे चलकर ब्राह्ममुहूर्त को साकार करने के लिए 'प्रिय प्राण प्रबुद्ध हमारे हों'—ऐसा मन्त्र-गीत प्रयोग में लाया जाता है। इतना ही नहीं, सान्ध्य-गीत नारी-कण्ठ ने निर्गत होता है, अतः उसकी शब्द-योजना एक प्रकार की है और

जल गए हैं; गर्म उनकी राख—हो रही ठंडी न; मैं तो लाख—
यत्न कर हारा, न पाई राह! पितर का उद्धार मेरी चाह!!

—'गङ्गावतरण'

है देवि, दिख रहा मुख सूखा रक्ताभ, नमित ज्यों सान्ध्य-कमल,
क्या बात, तुम्हारा चित्त चंचल? क्या बात तुम्हारे दृग छल-छल?
बस-बस, तप की मत बात करें, तपते-तपते मन ऊबा है!
मेरे जीवन का फुल्ल कमल आँसू के सर में डूबा है!

—'पाषाणी'

ब्रह्ममुहूर्त वाला सहगान ऋषिकुमारों से सम्बद्ध होने के कारण 'प्रबुद्ध'–जैसे अगेय शब्द को भी भैरव, रामकली या झिंझोटी में सहज भाव से स्वीकार कर लेता है। इस नाटिका का अन्त 'पाषाणी हूँ' वाले गीत से होता है, क्योंकि प्राभातिक वातावरण की परिपूर्णता ऋषिकुमारों के–

"वे स्वप्न न आएँ आँखों में
जो दीप्त नहीं रे लाखों में,"

–ऐसे उदात्त मनोभावों तक ही सीमित नहीं है। उसका एक और प्रबुद्ध पक्ष है। अवश्य, पाषाणी का प्रबोध दूसरे प्रकार का है–

पर्वत चुप, सिन्धु गरजता है,
रे, किसको कौन बरजता है,
क्या ऊँचाई, क्या गहराई,
मैं तो समतल की वाणी हूँ!

इसमें 'ऊँचाई' शब्द आता है, जो पूरी रुखाई के साथ ऊपर की तरफ तनता जाता है; तनता जाता है और इस प्रकार ऊँचाई स्वत: व्यंग्य बन जाती है। 'गहराई' का भी लगभग यही हाल है–यह शब्द अतलता में डूबता-डुबोता नहीं, गड्ढे में धँसता चला जाता है। आरोह-अवरोह का स्वर-निर्मित व्यंग्यचित्र यहाँ देखने को मिलेगा।

यों इन गीतों में मात्रिक समानता है, पर स्तर-भेद भी है। यदि दोनों को भैरव या भैरवी में ही गाना अभीष्ट हो, तो ताल बदल कर या स्वर-रचना में किंचित् अन्तर रख कर शब्दों और स्वरों में सामंजस्य लाया जा सकता है।

प्रस्तुत संग्रह में परिस्थितिवश 'बहार' और 'वसन्त बहार' के कई गीत हैं। इमन, बिलावल, खमाच, दरबारीकान्हड़ा, सारंग (शुद्ध, गौड़, वृदावनी) छायानट, केदारा, तिलककामोद, देश, दुर्गा, हमीर प्रभृति कतिपय करुण-मधुर रागिनियाँ रचना-काल में प्राय: मेरे अन्तर को स्वरित करती रही हैं। शास्त्रीय संगीत मुझे संशोधनों के साथ प्रिय है। संगीतिकाएँ प्रस्तुत करते समय आलाप तथा बोल-तान की अधिकता और सरगम सुनाने के व्यामोह से बचा जा सके, तो रस-सौन्दर्य में निखार ही आए। कुछ नये आलोचक कलात्मक गीतों का उत्स लोक-गीतों में ढूँढ़ते हैं। मैंने भरत मुनि को ही मान्यता दी है : जथाह पाठ्यम् ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव यजुर्वेदादभिनयान् रसान् आथर्वणादपि। अब वेद ही गड़ेरियों के गीत हों तो मुझे कुछ नहीं कहना है। लोकगीत की धुनें भी 'वासन्ती' में आयी हैं, यों पतझड़ 'थका मारवा का स्वर' है। मारवा षाड़व-षाड़व जाति का एक राग है। इसमें पंचम वर्जित है। ऋषभ कोमल

और मध्यम तीव्र है। शेष स्वर शुद्ध हैं। गम। ग रे। ग रे। सा सा। रे रे। सा सा। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे संगीतिका काव्य-नाट्य के किनारे डुबोकर बहनेवाली संगीत की गंगा ही है।

जीवन की गम्भीर घटनाएँ, मार्मिक अनुभूतियाँ और तीव्र मानसिक संघर्ष मेरे काव्य-नाट्य के उपादान हैं। स्पष्ट है कि काव्य-नाट्य की विषय-वस्तु गद्य-नाटक की कथावस्तु से पृथक् होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि चाहे गद्य में कहो, चाहे पद्य में, बात एक-सा ही असर रखेगी। No : the kind of play I mean is one in which you feel that the characters themselves are poetry, and were poetry before they began to speak poetry.* काव्य-नाट्य में घटना-चक्र का चमत्कार नहीं के बराबर होता है. बाह्य तथा आभ्यन्तर घात-प्रतिघातों का मनोविज्ञान भी ऋजुता में ही ग्रन्थिल होता है।

'गंगावतरण' में पौराणिक वातावरण की रक्षा के लिए सूत्रधार की अवतारणा की गयी है; नारद से घनाक्षरी छंद में बुलवाया गया है। कर्मयोगी भगीरथ को भावनिष्ठ काव्यात्मक चरित्र बनाया गया है; ब्रह्मा से परिसंवाद में नाटकीय उत्कर्ष-प्रदर्शन का प्रयास किया गया है और कठिन नैतिकता की समस्या के युगानुरूप सरल समाधान का संधान भी किया गया है।

'उर्वशी' की समस्या अलौकिक कला-प्रेम तथा लौकिक द्वन्द्वात्मक प्रेम को केन्द्रित करती है। इसमें भोगवादिनी (दरबारी-सरकारी) कला को तर्जित किया गया है, जिससे कलाकार उर्वशी को अभिशप्त होकर सामान्य मानुषी के रूप में दुःखान्त (नाटकीय) जीवन स्वीकार करना पड़ता है। इसमें स्वर्गीय सुख-चापल्य को सांगीतिक वातावरण में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। व्यंग्य-विनोद द्वारा कहीं रंग भरा, कहीं गहराया गया है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग अकारण नहीं है। विक्रमोर्वशीयम् के कथानक से प्रेरणा भर ली गयी है; इससे रचना की मौलिकता मुखर ही हुई है।

'वासन्ती' प्रतीकात्मक गीति-नाट्य की दिशा में मेरा एक प्रयोग है। उसके चरित्रों को गति देने के लिए मैंने शास्त्रीय और लोक-संगीत को समान रूप से प्रश्रय दिया है। 'पतझड़' को मैं वांछित विराट् रूप दे सकता, तो वह मेरी श्रेष्ठतम कल्पनाओं में परिगणित होता। अस्तु, प्रस्तुत रूप में भी वह मुझे प्रिय है। उसका अभिनय रंगमंच पर एक नया ही रंग लाएगा। 'वासन्ती' की

---

* Lascelles Abereromble.

काव्य-कला नाट्य-शिल्प से होड़ करती है। मेरी काव्यात्मा उसके मूर्तिकार से तदाकार हो गयी है–

अपने जीवन का धन–
सुख-दुख से व्याकुल मन
अग-जग में बाँट रहा–
स्वार्थ-गर्त पाट रहा!
मैं सुन्दरता गढ़ता,
लिपि-विहीन भी पढ़ता–
शून्य भेद बार-बार!
मैं शिल्पी, मूर्तिकार!!
पत्थर जब कटता है
तब मन में अटता है–
मानव की निर्ममता
दम्भ-भरी निष्ठुरता
कट सकती, घट सकती,
हर खाई पट सकती,
सुन्दरता निर्विकार!
मैं शिल्पी, मूर्तिकार!!

'पाषाणी' मूलत: मनोवैज्ञानिक है। मनोविश्लेषण को नाटकीय तारतम्य में लाने के लिए विशिष्ट वातावरण उत्पन्न किया गया है। पाषाणी की तृप्त अतृप्ति और ऋषि की अतृप्त तृप्ति का अन्तर्द्वन्द्व काव्य को तीव्र-तीक्ष्ण और संगीत को सफल-सार्थक बना सका है या नहीं, सुधीजन जानें, मैंने यह प्रयास किया है कि तपोवन की प्राकृतिक सीमाओं से काव्य और संगीत की कलात्मक सीमाएँ एकतान हो जाएँ और बाह्य-आभ्यन्तर की सम-विषमताओं को सूक्ष्म मानवीय भावनाएँ सांकेतिक रूप से आन्दोलित करती रहें।

'मंजरी' राजशेखर की कथा-वस्तु से प्रेरित ही नहीं, प्रभावित भी है। अवश्य मैंने प्राचीन चरित्रों का नव-निर्माण किया है। नव-निर्माण के क्रम में रसान्तर (सुखान्त का दु:खान्त हो जाना) स्वाभाविक है। नाट्य-शिल्प की आधुनिकता को वस्तु की मध्ययुगीनता के कारण मैंने पूरी तरह नहीं अपनाया, फिर भी प्रसारण और प्रदर्शन-कौशल के लिए पर्याप्त अवकाश रहने दिया है। भूदान के इस युग में मुझे जो भूमि मिली है, उसे गोड़ने, निराने में मैंने थोड़ा-

बहुत श्रम किया है, खेत नये ढंग की है और फसल, अनावृष्टि-अतिवृष्टि के प्राकृतिक उत्पातों के बावजूद, नयी उपजाई है, अब बाजार-दर की घट-बढ़ पर तो अपना काबू नहीं है, उसके ठेकेदार और हैं और उन्हें अपना फर्ज पूरा करना अच्छी तरह आता है।

रंगमंच-सम्बन्धी मेरे दृष्टिकोण में प्रसाद जी से समता है। मैं भी नाटक के अनुरूप रंग-व्यवस्था के पक्ष में हूँ, रंगमंच को मद्देनजर रखकर नाटक लिखने के पक्ष में नहीं। दृश्य-चमत्कार को मैं नाट्य-कला का चूड़ान्त-प्रकर्ष नहीं मानता—विशेषत: गीति-नाट्य में तो काव्य, नाट्य तथा संगीत का सहज संगम देखा जाना चाहिए। इस प्रसंग में श्री एलेरडाइस निकल के शब्द स्मरणीय हैं—

The History of the drama presents one unassailable truth; when the drama declines scenic adornment begins to flourish. Perhaps we might even say that when scenery and show become dominent, poetry and passion are forced to retire.

—World Drama.

अस्तु, जिन्होंने अपनी दृष्टि की विशालता और हृदय की उदारता प्रदर्शित कर मेरी साधना के जागरण और क्रन्दन को सार्थकता प्रदान की है, उन्हें मैं क्या कहूँ?

'सुर बाजे मनेर माझे गो
कथा दिये कइते पारि ने'!

यह सच है कि मैं उस सुर में नहीं बजा जिसमें सूर्य का तेज बजता है; चाँद को चाँदनी बजती है; ग्रह-नक्षत्रों की दूरागत प्रकाश-बाँसुरी बजती है; अन्धड़ के निरीह पत्ते बजते हैं; दिये की शलभों-लहकी लौ बजती है, फिर भी भरोसा है : अभी तो यह मेरा प्रथम प्रयास है!

अन्त में, अपनी सर्वविध त्रुटियों के लिए सहृदय पाठकों से सविनय क्षमा-प्रार्थना करता हुआ कालिदास के ये शब्द दुहराना चाहूँगा—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम्
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेत:।

विजयादशमी, संवत् 2015
अक्टूबर, 1958 ई०

—जानकीवल्लभ

विषय-सूची

गंगावतरण : पृष्ठ 15-28

पात्र

सूत्रधार, भगीरथ, उर्वशी, ब्रह्मा, नारद, शंकर रम्भा

उर्वशी : पृष्ठ 29-50

पात्र

पुरूरवा, उर्वशी, रम्भा, विदूषक, चित्रलेखा, सुकेशी, भरत मुनि, मेनका

वासन्ती : पृष्ठ 51-68

पात्र

विश्वास, पतझड़, आशा, शिल्पी, किसान, मजदूर, वासन्ती

पाषाणी : पृष्ठ 69-94

पात्र

गौतम, इन्द्र, अहल्या, ऋषिकुमार, मल्लिका और उसकी सहेलियाँ

मंजरी : पृष्ठ 95-132

पात्र

राजा, रानी, गोपी, विदूषक, मंजरी, योगी, सखियाँ और चेटियाँ

गंगावतरण

प्रथम दृश्य

[नाट्य-समवेत-गीत]

अम्बर क्या, धरती पर स्वर्ग उतर आए!
रन्ध्र-रन्ध्र भर जाए; मौन स्वयं गाए!!
हो जो संकल्प सजल,
साधन निश्छल, निर्मल,
शून्य रूप पा जाए, रूप निखर आए!
अम्बर क्या, धरती पर स्वर्ग उतर आए!!
हो जो विश्वास अटल,
कर्म धर्म का प्रतिफल,
वृष्टि बिना वह्नि बुझे, उपल पिघल जाए!
अम्बर क्या, धरती पर स्वर्ग उतर आए!!
हो जो उज्ज्वल चरित्र,
तन, मन, जीवन पवित्र,
लौह हो सुवर्ण-वर्ण, कुंदन बन भाए!
अम्बर क्या, धरती पर स्वर्ग उतर आए!!

सूत्रधार

हो पुरुषार्थ प्रबल, तो कोई भी अनहोनी बात क्या?
जीवन-रथ के लिए सुदिन क्या, और अँधेरी रात क्या?
हो निश्चित आदर्श और उद्यम अविरत
तो विघ्नों के बीच,—मीच के मुँह में भी, क्यों भ्रान्त हो?
लक्ष्य-हीन जीवन से तो लक्ष्यार्थ मृत्यु भी है भली,
वन्ध्य वृक्ष से उपवन के, वन की सुन्दर किंशुक-कली!
मथना पड़े समुद्र, तो मथे, यदि उद्देश्य महान् हो,
चढ़े शिखर पर नगपति के, दे मूल्य, भले वह प्राण हो!

असिधारा-ब्रत लिया भगीरथ ने था ऐसा ही कभी,
संभव कर दिखलाया, कहते जिसे असंभव थे सभी!

[भगीरथ के-से कूटस्थ स्वर में]

है 'असंभव' शब्द अर्थ-विहीन,
अतल सागर में विहरता मीन!
लघु विहग हो गगन में उड्डीन–
कह रहा : क्या अगम? क्यों तू दीन?

मैं करूँगा तप, महातप; मौन–
तुहिन, आतप पिघल पूछें : कौन?
प्रज्वलित कर अग्नि चारों ओर,
ग्रीष्म के मध्याह्न का रवि घोर–

मैं निहारूँगा निमेष-विहीन,
ऊर्ध्व दृष्टि प्रतप्त नभ में लीन!
सह अनी की धार-सी जलधार,
झेल झञ्झा, चञ्चला की मार–

मैं रहूँगा अटल, अडिग, अडोल,
मूँद कर आँखें, हृदय को खोल!
सलिल में आकण्ठ होकर मग्न,
झेलता हिमपात, वात-विभग्न–

एक ऊपर नभ दिगम्बर, नग्न,
दूसरा में साधना में लग्न!
ऊर्ध्वबाहु, कनिष्ठिका भर टेक–
भूमि पर, कम्पित न हूँगा नेक!

[पुनः सहज स्वर में]

निराहर निर्मल बलशाली पुण्य तीर्थ गोकर्ण में,
रहे तपस्या-निरत भगीरथ एक वचन औ' कर्म में!

'चढ़े अग्नि-रथ पर प्रचण्ड मार्तण्ड उतर कर आ गए?
अमित किरण-कण या उनके, तप के शरीर पर छा गए?'

–अनदेखी दिव्यता देख तपलीन भगीरथ की, यही–
शंका करने लगी नीलमणि नभ से मिट्टी की मही!

[पृष्ठभूमि में ताल-बद्ध नूपुरों की झंकार]

और गगन उस दिन झंकृत होता था नूपुर-नाद से,
ऊबा था मन देवराज का सूखे वाद-विवाद से!
नारद ने संवाद सुनाया था कि भगीरथ तप रहे,
उनके तप से सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र सभी हैं कँप रहे!
भिन्न-भिन्न देवों पर इसका पड़ा प्रभाव विभिन्न था,
संवादी स्वर सभी न निकले, एक तार जो छिन्न था!
इस विवाद का भेद भुलाने रम्भा आई नाचती,
और उर्वशी किसी मानिनी की पाती-सी बाँचती!

[नूपुर-निनाद क्रमशः मुखरतर होता जाता है। रम्भा तथा उर्वशी गाती आती हैं।]

रम्भा

छुम-छुम-छुम नूपुर-धुन सुन-सुन!
जड़ तन बन जाता मन चेतन,

निर्गुण गा उठता है गुन-गुन!
छुम-छुम-छुम नूपुर-धुन सुन-सुन!!

नन्दन-वन पल्लव-पल्लव से
भर जाता मृदु मर्मर-रव से;
सुमन सुमन परिमल नव-नव से–

हरते, वरते सुर-उर चुन-चुन!
छुम-छुम-छुम नूपुर-धुन सुन-सुन!!

उर्वशी

तन के रूखे, मन के सूखे,
मृत्युलोकवासी क्यों भूखे?
बारह मास जहाँ पिक कूके–

वहाँ रहे कोई सिर धुन-धुन!
छुम-छुम-छुम नूपुर-धुन सुन-सुन!!

रम्भा

क्रीड़ा-शैल कनक-कदली से
घिरा-घिरा नव कुसुम-कली से–
कोई निकले कुंज-गली से

मणि-सोपान चढ़े पग रुन-झुन!
छुम-छुम-छुम नूपुर-धुन सुन-सुन!!

उर्वशी

मृत्यु-लोक के लोग निराले
जप के, तप के सहें कसाले!
पड़ें न क्यों तब सुख के लाले–

जब जीते कल्पित पट बुन-बुन!
छुम-छुम-छुम नूपुर-धुन सुन-सुन!!

सूत्रधार

इन्द्रदेव पर इन्द्रजाल-सा सुहुआ नृत्य-संगीत से,
बोल उठे वह स्वगत कि जैसे कोई मन के मीत से–

यह ब्रह्मास्त्र त्रिलोकी को वश में लाने का पास जो–
किसी भगीरथ के जप-तप से तो क्यों चित्त उदास हो?

सुन्दरियों की बाँकी चितवन साधन-गिरि को दे ढहा,
सरस हँसी पावस-सरि-सी ले जाय धर्म को यों बहा!

चिन्तातुर उर, साथ बारहों सुर जैसे बजने लगे,
परियों को समझा कर सुरपति नव किरीट सजने लगे!

द्वितीय दृश्य

सूत्रधार

आधी रात : दूध की धोई-सी छिटकी थी चाँदनी,
वातावरण प्रशान्त, हवा बहती थी प्राणोन्मादिनी!

पर्वत आत्म-विभोर, मोर-वन नीरव, रोर-विहीन थे,
और भगीरथ खड़े स्तूप-से घोर तपस्या-लीन थे!

[पृष्ठभूमि में अलङ्कार-शङ्कार]

कङ्कण-किङ्किणि-नूपुर-धुन सुन पड़ी अचानक इस घड़ी,
नृत्य-ताल-उन्मद पद से काँपा गिरि, मूर्ति अडिग खड़ी!

बाँह पकड़ स्वर्भा रम्भा की चिर किशोरवय रूपसी–
बढ़ी मन्द निष्पन्द चरण धर नृप-समीप तब उर्वशी!

टुक रुकती, झुकती, बल खाती, मृदु-स्वर गाती, नाचती,
निरख नैश नीरज-से लोचन, हँसती, धीरज जाँचती!

[रुकने-झुकने की पायल-ध्वनि : गुनगुनाने-आलापने का सरस स्वर]

उर्वशी

किस अरूप की यह फुलवारी!
रूप - रंग - रस - गंध - बावरी
लहराती है क्यारी-क्यारी!

रम्भा

किरण जाल-सा कुछ बुन जाती
डालपात से हिलमिल, झिलमिल;
फँस जातीं आँखों की पाँखें,

हँस पड़ती हैं कलियाँ खिल-खिल,
मन-मधुकर झुकता, उड़ चलता;
कोकिल-कंठ पवन-नभचारी!

[दोनों]

किस अरूप की यह फुलवारी?

उर्वशी

यह विश्राम-धाम सुषमा का,
भवन भावनाओं का अपना,
सत्य कल्पनाओं का सुन्दर,
स्वानुभूति का जाग्रत सपना,
यह छिटकी चेतना-चन्द्रिका
मधुकण-भीनी प्यारी-प्यारी!

[दोनों]

किस अरूप की यह फुलवारी!!

सूत्रधार

गान हुआ निष्प्राण, प्राणसंमोहन भूल रही नहीं,
खुलीं नहीं आँखें भूपति की, नाव अकूल बही नहीं!

धक्-धक् करने लगा हृदय, सन्धान वाण का व्यर्थ क्यों?
सुरपति-विजयी सुर नरपति से हार असार, निरर्थ क्यों?

घुटती-घुटती-सी, धूमाकुल सुषमा-गृह ज्यों जल गया!
अन्तर्मुख भूपति के सम्मुख सुमुख स्वर्ग निष्फल गया!

अब भी चरण रणित होते थे, बजती थी कटि-किङ्किणी,
किन्तु पराजय-जड़ित मान सर में नीरव कलहंसिनी!

लौट गई श्लथ-शिथिल पदों से रजत-निशा गोकर्ण से,
पग पग रँगने लगी धरित्री उषाकिरण के स्वर्ण से!

तृतीय दृश्य

सूत्रधार

गए वर्ष पर वर्ष बीतते, सिर न भगीरथ का झुका,
तन बन गया शिराओं का वन, मन का रथ न कभी रुका!

"गङ्गा को लाना ही होगा, लाना ही होगा उन्हें,
स्वर्ग छोड़ कर इस धरती पर आना ही होगा उन्हें!

इतना तप पर्याप्त नहीं? प्राणों की आहुति शेष है!
तिल-तिल कर जल जाऊँगा मैं, आत्मा की द्युति शेष है!"

यही एक संकल्प, एक ब्रत, एक टेक, एकाग्रता,
किए भगीरथ ने प्रयत्न जो, वही प्रयत्न-समग्रता!

उधर, हिला कमलासन, ब्रह्मा रोक न अपने को सके,
आए करने सत्य, मनुज के रोक न सपने को सके!

ब्रह्मा

उग्र तप का कर रहे जयगान,
ओ भगीरथ, जो मनुष्य महान्!
'वरं ब्रूहि', विजित तुम्हारा प्रेय,
हो तपोबल तो न स्वर्ग अदेय!
यह न समझो, दे रहे हम दान,
यह तुम्हारे कृच्छ् तप का मान!

भगीरथ

स्वर्ग! तुम समझे पितामह ठीक,
वचन अन्तर्नयन का न अलीक!

स्वर्ग, जो कि स्वयं तुम्हारा धाम,
स्वर्ग, जो अपवर्ग से अभिराम,
वह सुलभ हो, पूर्ण हो सब काम,
मैं नहीं था तप रहा निष्काम!

ब्रह्मा

कह चुके हम, स्वर्ग यह साकार–
साधना पर विहँस कर बलिहार!
ब्रह्मलोक अभी तुम्हारे हाथ!
चाहिए क्या और इसके साथ?

भगीरथ

तप रहा था मैं न अपने हेतु,
स्वर्ग का रचता रहा मैं सेतु
–पूर्व-पुरुषों के लिए; जो हाय!
कपिल की क्रोधाग्नि में असहाय–
जल गए हैं;
गर्म उनकी राख–
हो रही ठंडी न;
मैं तो लाख–
यत्न कर हारा, न पाई राह!
पितर का उद्धार मेरी चाह!!

ब्रह्मा

पितर का उद्धार कैसे देवता–
कर सकेंगे? यह हमें तो दो बता!

जानते हैं हम कि पार्थिव-लोक में–
कर्म ही है धर्म; सुख में, शोक में–
कर्म का ही लेख है जाता पढ़ा,
कर्म पर निर्भर न भाग्य घटा-बढ़ा!

जो पितर निज कर्म के मारे रहे,
जो पितर निज धर्म से हारे रहे,
तरण-तारण–सब उन्हीं के हाथ है,
स्वर्ग तो केवल तुम्हारे साथ है!

भगीरथ

वह पितामह, स्वर्ग फिर किस काम का?
पितर तर सकते नहीं, तो नाम का!
मैं उतारूँ पार औरों को न जो,
धिक् तपस्या, नियम! है सब ढोंग तो!
हा विधाता, कर्म-बन्धन तोड़ कर
मुक्ति-पथ अपना सके मानव अगर–
तो न हो क्या सिद्धि? स्वर्ग मिले नहीं?
प्राण-सर में कनक-कमल खिले नहीं?

[ऊर्ध्व श्वास लेकर]

एक दिनकर का प्रकाशक कर्म–
एक आह्लादक शशी का धर्म–
विश्व भर को दे रहा आलोक,
कर रहा सबको प्रसन्न, अशोक!
क्यों भगीरथ का न तब तप-कर्म–
देव-पितरों का सके छू मर्म?
देव बरसें पितर पर आशीश,
पितर तर जाएँ, झुकाएँ शीश!

[वीणा बजाते और नारायण-नारायण कहते हुए नारद का आगमन]

ब्रह्मा

[चौंक कर]

देवर्षि नारद! आप?
कौतुक-समुद्र अमाप!

नारद

हाँ ब्रह्मदेव! अगण्य–
गुण-राशि-भासित, धन्य!

ब्रह्मा

कैसे, किधर से और–
आए अभी इस ठौर?

नारद

ऐसे सुअवसर को कैसे कहो छोड़ता मैं,
नयन जुड़ा रहे हैं : देवलोक दानी है!
किन्तु आज और एक दर्शनीय दृश्य यहाँ,
मर्त्यलोक ध्यानी अभिमानी, तपी, ज्ञानी है!

मिट्टी की महत्ता ब्रह्मदेव! दुहराई जाती–
शिवि की, दधीचि-हरिश्चन्द्र की कहानी है!
पुलकित रोम-रोम, विस्मित-चकित चित्त,
आज भी धरा पर भगीरथ-सा प्राणी है!

ब्रह्मा

कुछ सूक्ष्म, कोई स्थूल–
हमसे हुई क्या भूल?

नारद

ब्रह्मदेव, भूलचूक की भी एक ही है कही,
मैं जो सुनता था स्पष्ट कथन अकथ का,
मैं जो देखता था अवकाश आसपास का औ'
अतुल विकास मानवीय मनोरथ का,

मैं जो समझता कार्य-कारण-परम्परा था,
भाँपा करता था अवसान प्रति अथ का,
आज मुझे मिलता पता न तर्क के पथ का,
वर्तमान भूलता भविष्य भगीरथ का!

ब्रह्मा

कुल-कमल राजा भगीरथ धन्य!
स्वार्थ-साधक स्वजन होते अन्य!!
मानता, जग कर्म-तन्त्र-प्रधान,
पर भगीरथ असामान्य महान्!
लोक-मङ्गल के लिए प्रण ठान—
तप इन्हींने है किया, यह मान—
हम, इन्हें देंगे अतुल वरदान,
ये मनुज-उत्थान के प्रतिमान!

भगीरथ

[गद्‌गद स्वर से]

शत-शत पितर की भस्मराशि करो सुशीतल हे!
सन्ताप भूतल का हरो, हो स्फीत ही-तल हे!

एकावली-सी स्वर्ग की गङ्गा यहाँ उतरें,
कर परस ज्योतिर्धार का मेरे पितर उबरें,
मेरे पितर क्या? भस्म ही उनका अरे, अब शेष,
उनके बहाने हो हमारा पतित-पावन देश!

अन्तर्दया-द्रव-सा सलिल वह शान्त निर्मल हे!
शत-शत पितर की भस्मराशि करो सुशीतल हे!!

ब्रह्मा

एवमस्तु, गङ्गा उतरेंगी धरती पर,
उन्हें कमण्डलु से हम देंगे तज सत्वर;

[सचिन्त स्वर में]

पर उनका उत्कल, उच्छल, ज्योतिनिर्झर,
कौन सँभालेगा लहरों में गुँथी लहर?
कौन शक्तिशाली ऐसा इस अवनी पर—
जिसके अहा! सहारे झुक आए अम्बर?

[कुछ सोच कर]

हाँ, कैलासनिवासी योगी शिव-शङ्कर–
हैं सँभाल सकते गङ्गा को 'गङ्गाधर'!

करो तपस्या, पाने को उनका भी वर,
और उपाय नहीं है कोई भी नरवर!

[सहसा डमरू का शब्द सुनाई पड़ता है : झाँझ-कठताल और मृदङ्ग की धमक भी।]

भगवान शंकर

[मेघ-मन्द्र स्वर में]

शिव का वर है प्राप्त तुम्हें, मत चिन्तित हो!
यह अप्रार्थित लब्धि : न कर्मठ विस्मित हो!

मैं प्रसन्न अविरत प्रसन्नता-दायक हूँ,
बढ़ो भगीरथ, मैं आ-लक्ष्य सहायक हूँ!

[भावार्द्र होकर]

सत्य के लिए तप करनेवाले देखें
मुक्ति, शान्ति, निर्वाण चाहनेवाले भी,
सुन्दर स्वर्ग-पिपासा से जो कण्ठ सुखा–
लेते, ऐसे सिन्धु थाहनेवाले भी!

बात तुम्हारी न्यारी उन सब से, तुम तो–
शिव के लिए–लोक-मङ्गल के लिए तपे!
स्थावर हो या जङ्गम, जलचर या थलचर,
त्रिविध-तापहर शीतल फल के लिए तपे!!

[टुक रुक कर]

मैं प्रसन्न हूँ, स्वर्गङ्गा उतरें भू पर!
कीर्ति तुम्हारी गगन चढ़े, फहरे ऊपर!!

[पृष्ठभूमि में शंख, डमरू, मृदङ्ग आदि विविध वाद्यों के साथ गङ्गा के अवतरण का झर-झर-झर-झर शब्द सुनाई देता है।]

❑

उर्वशी

प्रथम दृश्य

[दूर-सुदूर से आती हुई नारी-कण्ठ की आर्त पुकार]

"आर्य्यो, रक्षा करो; बचाओ!
कोई आओ! कोई आओ!!"

पुरूरवा

नारी-कण्ठ! आर्त स्वर! कातर क्रन्दन! द्रवित निवेदन!
त्रस्त, अजल आह्वान! विकल-विह्वल, अनाम आमन्त्रण!

यह सब उस उतने ऊँचे से? चन्द्रचूड़ भूधर से?
क्रन्दन, तू भी बरसा करता धरती पर ऊपर से?

[फिर वही स्वर]

"आर्य्यो, रक्षा करो; बचाओ!
कोई आओ! कोई आओ!!

पुरूरवा

रुको देवियो, यों पुरूरवा मिट्टी का रखवाला;
पर ऊपर भी आ सकता है, शून्य न रहे निराला!

धरती की सहायता से जो बच सकता है स्वर्ग,
सच मानो, ठकरा सकता वह करतल-गत अपवर्ग!

[रथ का घर्घर नाद : अवतरण-लाघव : उद्दीप्त स्वर]

यह लो, मैं आ गया, कौन हो तुम सब? है कैसा डर?
दुर्विनीत वह सुर कि असुर है? नर है अथवा किन्नर?

स्पष्ट कहो, कोई हो, मेरा धनुष आत्म-निर्भर है,
बाण प्राणहर हैं; कृपाण यम का अग्रज सोदर है!

रम्भा

[स-संभ्रम : गद्‌गद स्वर]

महाराज पुरूरवा को अप्सराएँ कह रही हैं–
नमस्कार, प्रणाम;
यह सुकेशी, मेनका, यह चित्रलेखा, और मेरा–
स्तम्भ रम्भा नाम;
प्राणमणि-सी हम सभी की उर्वशी का
हरण है औचक हुआ इस काल;
एक असुर अभी उसे हर ले गया है–
पूर्व-उत्तर कोण से विकराल।

पुरूरवा

[दाँत पीस कर]

असुर सुर से लड़ मरें, यह ठीक चाहे हो;
पर हरें अबला-जनों को, यह कहाँ का शौर्य्य?
वीर तो प्रतिशोध लेता ही विपक्षी से,
पर हरण यह उर्वशी का वीरता या कौर्य्य?

[व्यंग की हँसी हँस कर]

क्या कहूँ रम्भे, हमारी सभ्यता निर्लज्ज–
सहन करती आ रही स्थिति यह घृणिततर भी!
भोग-भूमि वसुन्धरा भी है हुई जाती!
सुर-असुर का स्वाङ्ग रचने है लगा नर भी!
हरण नारी का, यहाँ भी राजनीतिक शोध!
क्लीवता ही वीरता से ले रही प्रतिशोध!!

[आत्म-प्रत्यय का गंभीर स्वर]

पर डरो मत, उर्वशी का सुनिश्चित उद्धार!
असुर मानव से लड़े तो जायगा ही हार!

[रथ का घर्घर नाद : प्रस्थान]

चित्रलेखा

राजर्षि निडर हैं, तेजस्वी हैं, शूर हैं,
पर असुर शूर जितना उतना ही क्रूर है।

[सस्मित स्वर]

क्यों द्वन्द्वयुद्ध में उसका मस्तक हो आनत?
वह हृदय-हीन, उर्वशी-नयन से क्या आहत!

सुकेशी

तेरी शङ्का निर्मूल, प्रीति से कातर तू!
होती पुरूरवा पर भी तुझे प्रतीति नहीं?

बाहुबल, मनोबल और आत्मबल का सागर!
सीमित मति से तू है असीमता माप रही!

मेनका

[कुटिल हास्य के साथ]

था नाम सुना जैसा, देखा तो दिखे और!
दिखना ही था आँखों को कुछ तो श्याम-गौर!

तू बुरा मान रम्भा, चाहे दे मुझे मार,
निश्चय तेरा राजा जाएगा आज हार!

रम्भा

क्या बकती है! है होश-हवास ठिकाने तो?

मेनका

मेरा तो है! हाँ, राजा को दे आने तो!–

[ताली बजा कर]

मालूम भेद होगा उनके आने पर ही,
खुलती है बुद्धि कि कुछ खोने-पाने पर ही!

रम्भा

[हँसकर]

अब समझी!

मेनका

क्या?
बतला दे, तेरे पाँव पड़ूँ!

रम्भा

अब तक थी गले पड़ी, अब कहती पाँव पड़ूँ?

मेनका

जा-जा, रम्भा, नलकूबर के तलवे सहला!
तू क्या जाने, क्या रूप बला! क्या प्रेम भला!

[रुक-रुक कर : रसीले स्वर से]

कौतूहल से नत नयन उठा, चञ्चल चितवन–
जब सखी चलाएगी, राजा का आहत मन–

चीत्कार कर उठेगा–"मैंने ली मान हार!"
उर्वशी, असुर ही मरा, किन्तु सुर अमर 'मार'–

यह क्या कर बैठा! कहीं का नहीं मुझे रखा!
अपरूप रूप! मेरी आँखों ने अलख लखा!!

यह बिम्बाधर! यह खिलती-सी मुसकान मधुर!
यह कुन्द-दन्त की तड़ित्-कौंध! यह सुरधनु-शर!!

ये कर्ण स्वर्ण-कुण्डल-मण्डित! यह कण्ठ कम्बु!
सौन्दर्य-सरोवर का सौरभमय विकल अम्बु!!

ये वासन्ती बाँहें! हृदय-स्थल नन्दन-वन!
बहुवर्ण पर्ण! बहुरङ्ग सुमन! कलरव-गुञ्जन!

ऊर्म्मिल कटितट-सुख-स्वप्नों का पिच्छिल पनघट!
आत्मश्लाघा में निरत रत्न-किङ्किणि....

रम्भा

....नटखट!
नख-शिख-वर्णन कर बन्द, श्रवण कर रथ-निनाद,
राजर्षि आ गए, सखी आ गई, रणोन्माद–
दिखला अब राजा के नयनों से नयन लड़ा!
हम देखें, कौन भिड़ा, भागा, गिर पड़ा, अड़ा!!

[रथ से उतर कर उन्मुक्ति की साँस लेता हुआ]

पुरूरवा

लो, सँभालो अब सखी को, मैं चला,
देर का निकला हुआ हूँ, सब वहाँ–
कर रहे होंगे प्रतीक्षा, तर्क भी,
मैं यहाँ हूँ? मैं वहाँ हूँ? मैं कहाँ?

[कहने के ढंग पर सब हँस पड़ती हैं, फिर सँभलकर]

रम्भा

महाराज अभी थके आए; करें विश्राम!
हम व्यजन झलतीं; सुनाएँ नर-असुर-संग्राम–
किस प्रकार हुआ? मरा अरि? था असुर वह कौन?

मेनका

[हँसती हुई]

उर्वशी ने कुछ कहा पथ में? कि रथ में मौन–
रह यहाँ तक स्वप्न-यात्रा की? प्रकृति से भीत–
है सखी यह; हृदय इसका द्रवित नव नवनीत!

चित्रलेखा

साधुवाद कहें, विदा लें, हम न इतनी अज्ञ,
किस प्रकार प्रकट करें, हम कृपा-क्रीत, कृतज्ञ!

पुरूरवा

कुछ नहीं : मैंने किया क्या? मानवोचित कर्म!
आर्त का हो त्राण,—राजा का यही तो धर्म!

[स-सम्भ्रम स्नेहिल स्वर से]

पर तुम्हारी उर्वशी तबसे अचेत, विदेह!
इस घड़ी बरसो उन्हीं पर अमृत-शीतल स्नेह!

चपल अञ्चल से, कमल-दल से कि जल से शीत—
होश में लाओ उन्हें, वह हैं अभी तक भीत!

असुर को मारा, तुम्हारा बचन, सुर का कार्य—
हो गए पूरे; विदा दो:

[सब एक साथ]

भूलना मत आर्य!
हम तुम्हारी इस कृपा का नित करेंगी गान!
ठान प्रण तुमने बचाए उर्वशी के प्राण!!

द्वितीय दृश्य

[समवेत गान]

रम्भा

बाँसुरी बजती नहीं है!
प्राण-मोहक तान कोई—
गान में सजती नहीं है!

चित्रलेखा

रात भर जगती रही थी,
ललित लौ लगती रही थी,
प्रात का कुहरा भरा,
छवि दीप को तजती नहीं है!

मेनका

अरुणिमा यह तरुण मुख की,
झलक-सी किस अलस सुख की!
कुसुम-मधु-सौरभ बिना–
पर मधुरिमा मँजती नहीं है!

सुकेशी

[हँसती हुई]
उर्वशी सुर-उर-बसी है,
अधर में अटकी हँसी है!
मुक्ति वह मन की, कि तन के–
भक्त को भजती नहीं है!
बाँसुरी बजती नहीं है!!
[उच्छल हँसी]

रम्भा

क्यों उदास हो, सखी उर्वशी? किसकी चिन्ता घेरे है?
घर आई लक्ष्मी से, बोलो, कौन विष्णु मुँह फेरे है?

उर्वशी

विष्णु-विष्णु! कोई वैरागी ही लक्ष्मी को तजता है!
तुम क्या जानो! रंक, अकिंचन ही लक्ष्मी को भजता है!

रम्भा

मैंने उल्टा सुन रक्खा था! दीन तिमिर में रहता है;
पर न उसे कोई प्रकाश में लक्ष्मीवाहन कहता है!

मेनका

शहद न होगी मीठी तो अंगूर न क्या खट्टे होंगे?
मैं न कहूँगी, 'वह' किस थैले के चट्टे-बट्टे होंगे!

चित्रलेखा

'वह' है कौन? उर्वशी, सच, उस भाग्यवान को क्या कहते?

उर्वशी

उसका नाम नहीं लेते; उसके प्रसङ्ग में चुप रहते!

चित्रलेखा

ऐसी भी क्या बात? छीन थोड़े लेंगे हम पर-धन को?

उर्वशी

मुँह से सब कहते ऐसे ही, कौन जानता है मन को?

रम्भा

सुर न चुरा पाए जिसको, वह उर क्या असुर चुराएगा?
वह तो....वह तो हाथ लग गया उसे, न जो लौटाएगा,–
और न रख पाएगा ही!

मेनका

क्यों?

रम्भा

क्योंकि भवन वह भरा हुआ!
सेंध लगाने जाएगा ले थर-थर तन, मन डरा हुआ?

तो वह भला भेद पाएगा वज्र-कपाट लौह-गृह को?
तभी कह रही–उमड़ उर्वशी, तुझे हिलाना निस्पृह को!
परिकर बाँध, सँभाल मेखला, चञ्चल अञ्चल को कस ले!
मणिगण गूँथ बना वेणी जो दृष्टिमात्र से ही डँस ले!

[आदर से उत्प्रेरित करती हुई]

शुद्ध, विकृत स्वर भर नूपुर में, छहों राग उर में छेड़ो!
गूँज उठें तीसों रागिनियाँ; खिलो-खिलो पौदो, पेड़ो!

[वाद्यवृन्द में 'वसन्तबहार' की झंकार। नृत्य के साथ गीत]

आज मगन गगन झुके,
गौरव गिरि भूले!
मरु का सरवर लहरे,
अमल कमल फूले!!

टेसू-वन लाल-लाल
लहक उठे डाल-डाल
धरती का अङ्गराग
उड़ अम्बर छू ले! आज०
भर शून्य गह्वर मन
मृदुल-चटुल चरण-रणन
दोल, अनिल-लोल,
चढ़े, अचल-हास झूले!
आज मगन गगन झुके,
गौरव गिरि भूले!!

[उन्मुक्त हास्य]

रम्भा

तूने था मेनका, कहा, राजर्षि स्वयं झुक जाएँगे!
दिन भर आहें भरा करेंगे, निशि में चैन न पाएँगे!!
अस्तव्यस्त सब दीख रहा पर, यहाँ उर्वशी म्लान हुई!
स्वर्ग धँसा जाता है, संयत मानवता प्रतिमान हुई!!

मेनका

मानवता मैं नहीं मानती, नहीं जानती मानव को,
हाँ, राजर्षि सरस दिखते थे, समझी स्वर्ग निरे भव को!

चित्रलेखा

रस क्या इतना छिछला होता? रसिया सहृदयवर होता?
क्या टेसू का रंग सुगन्धित? चन्दनतरु सुन्दर होता?
बाहर से पाषाण दीखता, पर भीतर निर्मल पानी,
वावदूकता के बल केवल मूर्ख बना करता ज्ञानी!

रम्भा

फिर क्या होगा? बता चित्रलेखा, उर्वशी विवश-सी है!
इसके प्राणों पर बन आए, यह क्या बात सुयश की है?

चित्रलेखा

तुझे हो गया है क्या रम्भा? हम स्वभाव से अजर-अमर!
यही हमारा शाप अयाचित! यही हमारा संचित वर!

[समवेदना की गहरी साँस लेकर]

हम सब में उर्वशी न जाने क्यों इतनी है सुकुमारी!
देवलोक की आभा से बढ़ मर्त्यलोक की यह नारी!
मैं तो सोच रही हूँ, इससे एक पत्र ही लिखवाऊँ,
और उसे चोरी-चोरी, राजर्षि-निकट मैं पहुँचाऊँ!

[सब एक स्वर से]

यह सम्मति हम सबको भाई, इस शुभ में शीघ्रता करो,
नयन-नीर से क्या? कौशल से प्राण-प्रिया की पीर हरो!

[समवेत गीत]

रम्भा

नयन-नीर में पीर नहीं यह बहने की!
कही-सुनी जानेवाली बातें लाखों,
किन्तु नहीं है व्यथा-कथा यह कहने की!
नयन-नीर में पीर नहीं यह बहने की!

चित्रलेखा

मलय-परवन से, वन-वन, उपवन-उपवन में,
आकुल कलियाँ करें निवेदन, जो मन में,
गोपन क्या? है उन्हें पड़ी क्या सहने की?
नयन-नीर में पीर नहीं यह बहने की!

मेनका

उनके गुण गुन-गुन गाएँ भौंरे लाखों,
मुक्त हृदय, देखे अग-जग अपनी आँखों,
हमें चाहिए घुटन! सजा चुप रहने की!
नयन-नीर में पीर नहीं यह बहने की!

तृतीय दृश्य

[राज्योद्यान में राजा और विदूषक : प्रातःकाल : अनर्गल हँसते हुए विदूषक का आगमन]

पुरूरवा

हँस रहे हो इस तरह! क्या बात है?

विदूषक

महाराज, रहस्यमय यह प्रात है!

पुरूरवा

क्यों विदूषक, क्या रहस्य तुम्हें दिखा?

विदूषक

[रहस्यमय हँसी के साथ]

इस कुहासे में नयन-पावक-शिखा!

पुरूरवा

[झुँझलाकर]

कुछ नहीं समझा, विदूषक, फिर कहो!
साफ-साफ कहो, नहीं तो चुप रहो!!

विदूषक

चुप रहूँ? किस भाँति? कुछ सीखा नहीं!
जो चुपा दे, वह मुझे दीखा नहीं!

[खीसें निपोर कर]

बोलनेवाला कभी क्या हारता?
हाँकता हूँ डींग! कब इ ख मारता?

[चापलूसी की भङ्गिमाओं के साथ]

महाराज, प्रताप यह सब आपका!
कान तक खींचे हुए शर-चाप का!
मैं अकेला तो नहीं हँसता यहाँ!
हँस रही धरती कि नभ हँसता यहाँ!!

पुरूरवा

पर, विदूषक, भेद तो खोला नहीं,
क्या हुआ, आकाश कुछ बोला नहीं!

विदूषक

[स्वर में हास्यास्पद नाटकीयता]

महाराज, अभय! अभय दें मित्र को!
व्यंग का भर रंग निर्मित चित्र को!

कण्ठगत-उपवीत, मुण्डित-केश को!
अभय मोदकप्रिय, अदन्त गणेश को!!

पुरूरवा

ओ महाब्राह्मण, तुम्हें शाश्वत अभय!
पूर्व-पश्चिम और दक्षिण में अभय!
और, यदि दो स्पष्ट उत्तर तो अभय–
मुखर उत्तर से! निरुत्तर से अभय!

विदूषक

[सहमता-सकुचता हुआ]

महाराज सुनें, अभी उस ओर जब–
प्रमद वन में मैं गया था, भोर तब–

था हुआ न, चहक न खग की थी खुली,
चमकती थी ओस से धरती धुली!

चमकती थीं वृन्त पर कलियाँ नई!
चमकती थीं गगन की गलियाँ नई!

मैं गया बढ़ता, कि बस बढ़ता गया,
चरण-रथ पर सूर्य्य-सा चढ़ता गया!

दो नयन संकेत करते थे मुझे,
पथ दिखा अनिकेत करते थे मुझे!

मैं बढ़ूँ आगे कि वे पीछे हटें,
चमक इतनी, वे न कुहरे में अटें!

क्षितिज तक उद्यान के, चलता गया,
सिर हिलाता और कर मलता गया,

तब कहीं दीखे नयन वे पास से,
ब्रह्मवर्चस के कि सत्यानाश-से!

कामिनी थी एक-सुन्दर कामिनी,
बिना बादल के दमकती दामिनी!

मैं उसे देखूँ कि अपने आप को!
आप से कैसे छिपाऊँ पाप को?–
रूप वैसा था कभी देखा नहीं!
और अपना भी लिया लेखा नहीं!–

कौन रमणी मुग्ध मेरे रूप पर!
चढ़ रहा था कल्पना के स्तूप पर!

किन्तु वह रमणी नहीं, थी अप्सरा,
नाम रम्भा श्रवण कर मैं तो डरा!

ढूँढ़ती आई यहाँ थी आप को,
तरसती थी आपसे संलाप को,

पत्र लाई थी सखी का साथ में,
मैं उसे ले आ रहा था हाथ में,

बाँचता था, नाचता था, क्या कहूँ,
था लिखा,–यह विरह अब कबतक सहूँ!
किन्तु....

पुरूरवा

यह विस्तार क्यों? अभिमत कहो!
धार में वाचालता की मत बहो!

विदूषक

महारानी बीच पथ में मिल गईं,
पत्र पा चम्पाकली-सी खिल गईं!

विहँस कर मुझको प्रणाम किया प्रथम,
"उर्वशी का गीत गाऊँगी स्वयम्,"–

कह सँभाली कञ्चुकी में पत्रिका,
और चल दीं बन्द कर दृग-यन्त्रिका!

पुरूरवा

हाय रे वैधेय, फिर भी यह हँसी?
दीखते नभ में मुझे जब शत शशी!

नाव अब मझधार में है जा फँसी,
किस तरह, देखूँ, उबरती उर्वशी!!

[सोच्छ्वास]

क्या कहूँ, उस पत्र में था क्या लिखा!
महादेवी को कि उसमें क्या दिखा!

झपट लेने योग्य कौन विशिष्टता–
थी कि भूलीं अतिसहज वह शिष्टता!

[व्यंग से]

पत्र मेरा गीत उनका बन गया!
औ' विदूषक मीत उनका बन गया!!

[विदूषक हँस पड़ता है; पुरूरवा उद्विग्न तथा उत्तेजित हो उठता है]

रो नहीं सकते, रहो चुप, मत हँसो!
सर्प मोहित, मत सँपेरे को डँसो!!

[और अधिक खिलखिला कर]

विदूषक

देव, गाया जा रहा है गीत वह!
गीत क्या, मिसरी-घुला नवनीत वह!!
खुली खिड़की, नाद-देवी गा रहीं,
भीगते हैं प्राण, रस बरसा रहीं!

[राजप्रासाद के वातायन से छन-छन कर आता हुआ महारानी के स्वर में उर्वशी का प्रणय-गीत]

तुम क्या जानो मेरे मन की!
दिन में चैन न, नींद रैन में,
हँसी उड़ाते लगी लगन की!
ओ चितचोर, तनिक बतलाना,
पारिजात का शयन सुहाना–
क्यों काँटों-सा चुभता? क्योंकर–
पवन जलाती नन्दनवन की?
तुम क्या जानो मेरे मन की!
मुरझे अंग, कमल-डंठल-से,
मेरे तृषित नयन निष्फल-से,
तन के चन्दन, मन के मनके,
तुम पूजा मेरे जीवन की!

विदूषक

[अचम्भे से पड़ कर]

यह कैसा आश्चर्य! कौन-सा नया साज!
गिरि के हो रोमाञ्च! गगन को लगे लाज!
अतल सिन्धु दे रहा थाह किस भाँति आज?
अश्रु आपकी आँखों में क्यों महाराज?

चतुर्थ दृश्य

[मन्दार की छतनार छाँह में उन्मन उर्वशी अकेली गुनगुना रही है]

क्या जिलाया था मुझे, इस भाँति मरने के लिए?
तन किया था मुक्त, मन लाचार करने के लिए?

स्वाद जीवन का मिला, जब थे मिले उस बार तुम,
फिर मिलो, इस बार मैं तैयार मरने के लिए!

कह रही हूँ, काल भी कबतक बचा सकता मुझे,
तुम न आओ, मैं जिऊँ सौ बार मरने के लिए!

[दूर से ढूँढ़ती, हाँफती मेनका आती है]

मेनका

गा रही हो गान पार्थिव प्रेम का?
ध्यान भी कुछ है सुरों के क्षेम का?

भरत मुनि सुन लें तुम्हारा गीत यह,
सहस्राक्ष लखें किसी की जीत यह,

जानती हो दण्ड क्या तुझको मिले?

उर्वशी

[सोच्छ्वास]

मेनका, उपदेश-शर तेरे झिले!

[सहज सस्मित स्वर से]

हो गई तैयार अभिनय के लिए?
वारुणी की भूमिका तेरे लिए–

चुटकियों का खेल है; पर हाय! मैं–
किस तरह लक्ष्मी बनूँ? निरुपाय मैं–

सोचती हूँ : आज तो मुँह खोल दूँ!
नाम नाटक में 'उन्हीं का' बोल दूँ!!

मेनका

[विहँस कर]

भूल ऐसी मत कहीं कर बैठना!
मैं समझती, यह मुकरना, ऐंठना–
किसलिए है और क्या है; किन्तु वह?
वह महर्षि भरत! उन्हें क्या है पता–
अप्सराओं के हृदय का भी? बता!

उर्वशी

[झुँझला कर]

मेनका, अभिनय अभी यह क्यों, अरे?
विषय क्या?—लक्ष्मी-स्वयंवर! हे हरे!
फिर कभी होता, दिखाती मैं कला!
उर्वशी लक्ष्मी बने कैसे भला?

मेनका

उर्वशी, संलाप यह समुचित नहीं,
हो चुकी है देर, अब कहना वहीं!
छोड़ दें जो भरत मुनि तो ठीक है,
यदि नहीं, तो पीटनी ही लीक है!!

[उर्वशी को बलपूर्वक मञ्च पर ले जाती है। तालियों की गड़गड़ाहट। चहल-पहल। वाद्य-वृन्द। नूपुर की झङ्कार। दुगुन, तिगुन, चौगुन लयों में नृत्य के प्रकार। प्रत्येक बार सम पर तालियों में कमी। पदचाप ताल का उल्लङ्घन करती है। कड़कती हुई आवाज में]

भरत मुनि

चरण कहाँ पड़ते हैं, जाते किधर हैं नयन!
सावधान उर्वशी, आज तू उन्मन-उन्मन!!

आज कपोताञ्जलि तक तुझसे नहीं बन रही।
बाँहें लचतीं नहीं, झूल कर तुरत तन रहीं!!

कङ्कण चमक रहे हैं, पर क्या करते कण्-कण्?
कटि-तट-लटकी नहीं बज रही किङ्किणि किण्-किण्!

रणन-झनन नूपुर करते सुर-ताल-बद्ध क्या?
चरण-कमल जम्बाल-जाल से हुए नद्ध क्या?

शंख-चक्र की मुद्राएँ भी तो अशुद्ध हैं!
पद्म बने जैसे-तैसे, पर अप्रबुद्ध हैं!

द्रिम्-द्रिम्-द्रिम् उन्मद मृदङ्ग से ध्वनि जब निकली–
मुद्रित मोर बिभोर हुआ न मयूरी मचली।

वीणा के जब तार मानसर-से लहराए,
नूपुर-सुर के हंसों ने कब पर फहराए!

कुन्द-मुकुल तेरे कुन्तल से टूटे, बिखरे,
शिशिर-निशा-अभिनय में तेरे श्रमकण निखरे!

जब वासन्ती फूली, छिप कर श्यामा बोली,
तब तूने की 'आह'! खड़ी हो, तनिक न डोली!

यह सब क्या है? रही उर्वशी, तू तो भोली!
मुखर दुष्टता सीखी कैसे रह अनबोली?

ललित चेतना तुझमें सबसे अधिक खिली थी!
नाट्यकला को आत्मा-सी उर्वशी मिली थी!!

[भावोच्छ्वास के साथ]

ये सुडौल, सुघटित अवयव! प्रत्यङ्ग तरिङ्गत!
दीर्घ नयन रस-भाव-भरित, निर्मल, श्यामल, सित!!

यह उभर सौन्दर्य्य-सार, लावण्य-धार यह,
अर्पित यदि न कला को, तब शृङ्गार भार यह!!

स्वस्थ कला के लिए भोग औ' रोग एक ही!
हो अशुद्ध अन्तरा न क्यों, जब विकृत टेक ही!!

व्यर्थ रूप-रचना! धिक्-धिक् पापी सुन्दरता!
अमृत-कला में गरल मिलाने की तत्परता!!

सुन्दरता की दीप्ति के लिए काम-कला का–
हम करते स्वागत; पर उस पर अग्नि-शलाका–

भी देते हैं फेंक, जहाँ वह विकृति मात्र है!
कला-साधना विश्व-प्रकृति की विवृति मात्र है!!

[मेनका दौड़ कर चरणों से लिपट जाती है। फिर गिड़गिड़ाकर कहती है]

मेनका

क्षमा, क्षमा, मुनिवर! पुरूरवा-प्रेम-पगी यह–
आपे में उर्वशी नहीं है; लूटी, ठगी यह!

क्षमा-योग्य यह! केवल करुणा की अधिकारी!
झुलस जायेगी! यह शिरीष-सी है सुकुमारी!!

भरत मुनि

[व्यंग, क्षोभ तथा आक्रोश से कम्पित स्वर से]

अब समझा! लालसा नई सुलगी है तन में!
अब समझा! कामना नई पनपी है मन में!

यह पुरूरवा की बाँहों से लिपट चुकी है!
तभी धुआँती आग कि मिट वह लपट चुकी है!!

[अधिक उत्तेजित होकर]

तुझे शाप देता, कला नहीं तुझसे सधती!
निर्वैयक्तिक तू क्या होगी! तू तो बँधती–

ऋद्ध व्यक्ति से; सरस पुरुष से जोड़ा नाता!
भला कला से भला कहाँ क्या आता-जाता!!

भोगवादिनी, रूप शरद् की धूप नहीं है!
कला देव-अर्चा कि देव वह भूप नहीं है!!

[अश्रु-गद्‌गद कण्ठ से]

कलाकार थी! अब तू नारी मात्र रहेगी!
स्वर्ग-भ्रष्ट! तू क्या जाने, क्या भूमि कहेगी!!

❑

वासन्ती

प्रस्तावना

[वाद्य-संगीत के पश्चात् पुरुष-स्वर]

मङ्गलमय सज थाल कनक का
ज्यों उतारने आरती,
नए वर्ष की उषा आ रही है–
उन्मद - पद भरती!

रातों चलती रही मही पर,
रातों चल जलधार पर,
ऊँचे-से-ऊँचे शिखरों पर,
खड़ी गड़ी तलवार पर!

क्षत-विक्षत उन चल चरणों की
पीर बुझा नीहार में,
रचे महावर आर्द्र, आ रही,
अहा, तुम्हारे द्वार पर!

और इधर तुम विमन विरस-सी,
आत्म-केन्द्र में मग्न-सी,
खोई-खोई भ्रष्ट-लग्न-सी
हो उखड़ी-सी, भग्न-सी!

[सितार के तारों में सिसकियाँ : सजल नारी-स्वर]

करुणा-कोमल अन्तस्तल पर
यह चिन्ताचल दुर्भर!
अन्तस्सलिला का वक्षःस्थल, ज्वलित-
चितानल - निर्भर!
यह कैसी विडम्बना तेरी?
दम्भ-दर्प की विजय-पताका,
विनय क्रूर चरणों की चेरी!

बुझा-बुझा-सा मन रहता है,
थका-थका-सा तनु तन,
हल्की-फुल्की लगती जगती,
भारी, बोझिल जीवन,
अर्थ-काम का विकट झमेला!
आपाधारी मची हुई है,
मेले में हर व्यक्ति अकेला!
[वाद्य की हिलकोर : सस्मित पुरुष-स्वर]
कौन तुम जीवन से अनजान
गा रहीं अपने मन का गान?

तुम्हारा यह भोला वैराग्य,
रस-भरी नीरसता की बात,
कुतूहलमयी उदासीनता,
पात से ढका फूल का गात,
सरल अनुभूति, सबल अनुमान?
मोह में पड़ा हुआ या ज्ञान!

तुम्हीं वह निर्विकार, निर्लेप
जिसे छू पाता नहीं विषाद?
तुम्हीं निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त
आत्म-प्रत्यय औ' आत्म-प्रसाद?
पुरुष का अभ्रङ्कष अभिमान?
प्रकृति की गम्भीरता महान्?

कहो, फिर क्यों नयनों में नीर?
कहो, फिर क्यों प्राणों में पीर?
नमन करता आया नव वर्ष,
हर्ष में उड़े गुलाल-अबीर!
रँगो जन-जन के तन-मन-प्राण!
बनो मुख की श्री-मधु-मुसकान!
[वही सजल नारी-स्वर]
नभ ऊँचा, धरती नीची, मैं हूँ दोनों के बीच!
खुली हुई सामने सचाई, रहूँ कि आँखें मींच?

नए वर्ष की आगमनी की यदि बन पाती बीन,
मोद मनाती, गा सकती कोई रागिनी नवीन!

पर विवेक का कमल जल गया, शुष्क तर्क-सा कीच—
यहाँ-वहाँ फैला है, कैसे रहूँ कि आँखें मींच?
या तो सूखा पड़ा, उमड़ आई कि बाढ़ पर बाढ़,
चरमवादिता!—घोर घृणा या अन्धी भक्ति प्रगाढ़!

जीवन पङ्गु हुआ ऐसे में, मरण नाचता नीच!
अस्त्र-शस्त्र ही जब-तब देते परती धरती सींच!!

प्रथम दृश्य

[वाद्य-निनाद : भील-नृत्य का-सा वातारण : उद्धृत पद-विक्षेप : आँधी और तूफान : ह : ह : ह : अट्टहास : भारी स्वर में पतझड़ का नृत्य-गीत]

मैं पतझड़ का अन्धड़!
हर्-हर्-हर्, मर्-मर्-मर्,
थका 'मारवा' का स्वर!
डमरू का डम्- डम्-डम्;
तत्-तत्-थै, तत्-तत्-थै,—
मैं नाचूँ छम्-छम्-छम्,
मुरज बजे धम्-धम्-धम्,
बादल बरसे झम्-झम्,
बिजली चमके चम-चम,
ओले तड़्, तड़्-तड़्!
मैं पतझड़ का अन्धड़!!

[सारंगी के कम्पित स्वर में पत्तियों की-सी मर्मराहट : ह: ह: ह: व्यंग्य-भरी आवाज]

तू हिम से भीत रहा!
आतप या आपद में—
खिला नहीं, पीत रहा!
'स्वारथ' का मीत रहा,

हार रहा, जीत रहा!
छोड़ तना! छोड़ डाल!
छोड़ काँपता डंठल!
मैं पतझड़ का अन्धड़!!

[वायलिन के तीव्र-कोमल स्वरों में समवेदनात्मक मीड़ : ह : ह : ह : मधुर-भाव]

जो सूखा, उड़ जाए!
जो रुखा, जो रूठा,
बढ़े नहीं, मूड़ जाए!
नयन-रस निचुड़ जाए,
टूटा दिल जुड़ जाए,
ओ बहके, ओ मचले,
याद आ रहा है घर?
मैं पतझड़ का अन्धड़!

[सन्नाटे का आलम : कराह-भरी खाँसी : छेना और हथौड़े की खट्-खट्-खट्-ठन्-ठन्-ठन् : पतझड़ का विस्मित स्वर]

वन की निर्जनता में,
मन की निर्धनता में,
ठन्-ठन्-ठन्, खट्-खट्-खट्,
पत्थर क्यों काट रहा?
छेनी से चाँट रहा?

[स्वेद पोंछते हुए शिल्पी का श्रान्त स्वर]

मैं शिल्पी, मूर्तिकार!
अपने जीवन का धन,–
सुख-दुख से व्याकुल मन,
अग-जग में बाँट रहा!
स्वार्थ–गर्त पाट रहा!
मैं सुन्दरता गढ़ता,
लिपि-विहीन भी पढ़ता–

शून्य भेद बार-बार!
मैं शिल्पी, मूर्तिकार!

पत्थर जब कटता है
तब मनमें अटता है :
मानव की निर्ममता,
दम्भ-भरी निष्ठुरता,
कट सकती, घट सकती,
हर खाईं पट सकती,
सुन्दरता निर्विकार!
मैं शिल्पी, मूर्तिकार!

['पागल!' कह कर ह : ह : ह : हँसता और "मैं पतझड़, मैं अन्धड़" गाता हुआ पतझड़ आगे बढ़ जाता है। उसकी क्षीण से क्षीणतर होती हुई ध्वनि समाप्त हो जाती है। दूसरी दिशा से जल्दी-जल्दी उठते हुए पदों से किसान-दम्पति गाते आते हैं :]

अपनी धरती, भुज-बल अपना!
बैल हमारे, है हल अपना!

एक फसल जो मारी जाए,
दूजी की करनी तैयारी!
रोड़े तोड़ें, मिट्टी चालें,
बाँधें मेड़, बनाएँ क्यारी!

नई उमंग, नया रे सपना!
अपनी धरती, भुज-बल अपना!!

अन्न नहीं या प्राण नहीं है,
इसका क्या रे रोना धोना!
काल पड़ा तो करें प्रतिज्ञा :
अबके मिट्टी उगले सोना!

जतन करें, फिर पड़े न तपना!
अपनी धरती, भुज-बल अपना!!

[मूरख!' कह कर ह : ह : ह : हँसता और "मैं पतझड़, मैं अन्धड़' कर्कश स्वर में गाता हुआ पतझड़ आता है।]

पतझड़

मुँड़े मुण्ड पर तेरे ओले नहीं पड़े क्या?
देख महाजन नहीं रोंगटे हुए खड़े क्या?
कभी जलजला आया तेरे नहीं गाँव में?
चुभे नहीं तीखे काँटे क्या कभी पाँव में?

किसान

[तत्पर स्वर में]

मैं किसान हूँ, नौजवान; पक्का मेरा सिर,
ओले टुकड़े-टुकड़े होंगे, अगर जायँ गिर!

जितना उपजाता, उतना ही मैं खाता हूँ,
फाका करता, पर उधार क्या कुछ लाता हूँ?

क्यों उधार लूँ? मैं न शराबी, में न जुआड़ी!
कभी-कभी लानी पड़ती बस धोती-साड़ी!

चल जाता है काम, राम सबके रखवाले,
लगें महाजन की तिजोरियों में वे ताले,
जिन्हें तोड़ता है सपूत उनका रातों में,
और उड़ा देता ऐसी-वैसी बातों में!

['ढोंगी' कह कर पतझड़ आगे बढ़ जाता है। 'मैं पतझड़ : मैं अन्धड़' वाद्य में निनादित होता रहात है। दूसरे कोने से कुछ मजदूर-जवान गाते आते हैं :]

रँगा लो अपना-अपना पाग,
कि फागुन आनेवाला है!
बजाओ डफली, गाओ फाग,
कि फागुन आनेवाला है!

भिड़ाया कन्धे से कन्धा
कि पेट को यह गोरखधन्धा,

चढ़ाया कपड़े पर कपड़ा
सुना, जाड़ा बूढ़ा, अन्धा,
कूक कोयल, उड़ा जा रे काग,
कि फागुन आनेवाला है!
बजाओ डफली, खेलो फाग,
कि फागुन आनेवाला है!!
करा ले दूना-तिगुना काम
कि हममें है इतना उत्साह,
मजूरी अगर खरी मिल जाय,
मुनाफे की किसको परवाह!
बाँट लें अपना-अपना भाग,
कि फागुन आनेवाला है!
छाँट लें अपना-अपना पाग,
कि फागुन आनेवाला है!

[ह : ह : ह : हँसते हुए पतझड़ का आगमन। एक लम्बी साँस लेकर]

पतझड़

भंग पड़ी क्या भरे कुएँ में?
पागल सारा गाँव है!
जलती रेती में चलता जो,
कहता-ठंडी छाँव है!
ठाँव-ठाँव पैंतरे बदलता,
झटक पटकता पाँव है!
काँव-काँव करनेवाले का
राजहंस कवि 'नाँव' है!

[मुँह चिढ़ा कर]

ऐंठ अकड़ कर चलनेवालो,
बिना तेल के बलनेवालो!

मिहनत को भगवान मान कर–
हाथ-पाँव को छलनेवालो!
अरे सयानो, अजी जवानो,
कहाँ चले धरती धमकाते?

मजदूर-जवान

हमें पूछते–कहाँ चले?
चलने की देते राह हम!
जगती की गति ही रुक जाए,
बैठें जो कर 'आह' हम!

दुर्गम पर्वत की चोटी तक
हमीं चढ़ाते पंगु को,
अगम कहे जानेवाले
सागर की लेते थाह हम!

हम मजदूर-जवान
कल्पना को देते आकार हैं!
जल, थल औ' आकाश–
सभी पर रखते सम अधिकार हैं!

['बावरे' कह कर अट्हास करता हुआ पतझड़ जल्दी-जल्दी आगे बढ़ता है। सुदूर दूसरी ओर से सुमधुर नारी-कण्ठ सुनाई देता है। 'तानपूरे' के तारों की झंकार; बाँसुरी की टेर में 'बहार रागिनी' बजती हुई]

क्यों अधिक आँसुओं पर ममता?
यह तो केवल कुछ बिन्दु, बिन्दु;
पर जीवन निस्तल महासिन्धु!
क्या इन्हीं छलकनेवालों से–
उस जलनिधि की होगी समता?

क्या श्याम धरा, आकाश नहीं?
क्या सजल रुदन ही, हास नहीं?
सुरसरि का नीर भरा घट में,
क्यों तृषा-विषाद नहीं थमता?

मधुमास पास ही पतझर के,
आनन्द उमड़ता दृग भर के,
क्या ज्योति-चक्र को घेर-घेर–
रह सकने की तम में क्षमता?

नयनों से कर रस-दान तनिक,
अधरों पर धर मुसकान तनिक,
दुख में रुक-रुक, सुख में झुक-झुक,
बढ़ता चल, तू योगी रमता!

[गीत के समाप्त होते-होते 'पतझड़' की चीख-सी तीखी हँसी : डमरू और पखावज से आन्दोलित वातावरण : घुँघरू तथा विविध वाद्यों के बीच से 'पतझड़' का रोष और आकोश, भय और पराजय से कम्पित स्वर]

पतझड़

तन रे तम का वितान!
बन्द मन्द-मन्द गान!
सब मिथ्या, सब भ्रम है!
जीवन क्या? संभ्रम है!!
ह: ह: ह: ह: ह: ह:
आवर्तन, परिवर्तन,
मेरा ताण्डव नर्तन!
यह तोड़ूँ, वह फोड़ूँ,
मैं वन को झकझोरूँ!

पीले पत्ते टपके,
मेरे पंजे लपके!
'लालों' की बारी है,
तरु का सिर भारी है!
सर्वनाश का सँदेश
भेज रहा देश-देश—
ओ कच्चो, पक जाओ,
धूल पर टपक जाओ!
सूख गई खेती है!
जीवन क्या? रेती है!!
ह: ह: ह: ह: ह: ह:
ये नदियाँ, ये सागर,
हैं जल की छलना भर!
बुझे सूर्य, बुझे चन्द्र,
तड़ित्-छन्द, मेघ-मन्द्र,
लुकें, छिपें तारे जो,
सूर्य के सहारे जो,
यह औंधा आसमान!
बुझा-बुझा? भासमान?
यह बेला, यह जूही,
फूले रहते यूँ ही!
कमल हो गुलाब या,
झड़ा या खिला नया,
धोखे की टट्टी है,
आँखों पर पट्टी है!
ह: ह: ह: ह: ह: ह:
गुन-गुन-गुन गुन-गुन-गुन,
मधुप रहे हैं सिर धुन!

पाला पड़ जाएगा,
सुन्दर सड़ जाएगा!
सपना जग जाएगा!
काँटा लग जाएगा!
तुम सब अभिमानी हो,
मायावी ज्ञानी हो!
छूँछे या भरे हुए?
अपने से डरे हुए!
मध्यम हो या पंचम,
भूले हो स्वर-संगम!
कौन कहाँ अपना है?
जीवन क्या, सपना है!
ह: ह: ह: ह: ह: ह:

[ठीक इसी समय किसान-गान की पहली कड़ी]–

'अपनी धरती, भुज-बल अपना,
बैल हमारे, है हल अपना!'

दूर से सुनाई पड़ती है। पतझड़ 'ऐं!' कह कर चौंकता है। मजदूरों का कोरस सुनाई पड़ता है :]

रँगा लो अपना-अपना पाग
कि फागुन आनेवाला है,
बजाओ डफली, गाओ फाग
कि फागुन आनेवाला है,

[पतझड़ पैर पटकता, छाती कूटता है। तब नारी-कण्ठ की कमनीयता प्रतिध्वनित होती है।]

नयनों से कर रस-दान तनिक,
अधरों पर धर मुसकान तनिक,
दुख में रुक-रुक, सुख में झुक-झुक,
बढ़ता चल, तू योगी रमता!

[पतझड़ 'नहीं, नहीं, नहीं', कहकर चीख उठता है: फिर फफक-फफक कर कहता है]

यौवन की लहर मिटी,
जीवन की बाढ़ घटी,
नभ झुका न भूमि फटी,
नाव कौन घाट गहे?

दीखता नहीं विषाद,
दैन्य, पलायन, प्रमाद,
असमंजस, विसंवाद,
फिर किसकी शरण लहे?

हुआ हा जरठ-जर्जर,
थर-थर तन, घर्घर स्वर,
अब न बचेगा पतझर,
कहाँ रुके, कहाँ रहे?

शेष हो गया प्रताप,
रक्त रंग, पुण्य पाप,
उचित वचन भी प्रलाप,
कौन सुने, कौन कहे?

[अब किसान-मजदूर के कोरस और नारी का उक्त गीत एक ही साथ गूँजने लगते हैं। पतझड़ बावला हो जाता है। हँसता है; रोता है। गूँज तीव्रतर होती जाती है। वह 'नहीं-नहीं-नहीं' चीखता हुआ बाजों में विलीन हो जाता है। घोर सन्नाटा छा जाता है।]

द्वितीय दृश्य

आशा का गान

रंग-तरंगों पर लहराती आती मलय-बयार!
फाग-राग सुन-सुन, गुम-सुम मदमाती मलय-बयार!!

टेसू टहटह लाल, सुनहला आँचल भू का फैला,
तीक्ष्ण किरण के सैन चलाता ऊपर से नभ छैला,

और बौर-मिस शीश झुलाती जाती मलय-बयार!
फाग-राग सुन-सुन गुम-सुम मदमाती मलय-बयार!!

गुनगुन-गुनगुन भौंर और कूऊ-कूऊ नर-कोयल,
स्वर-पराग-बौछार बिछ रही पाँखुरियों पर कोमल,

सुरभि-परों पर मधु-मरन्द ढुलकाती मलय-बयार!
फाग-राग सुन-सुन गुमसुम मदमाती मलय-बयार!!

यह अरुणाई वन-वैभव की, तरुणाई कलरव की,
यह किसलय-तूलिका उतारेगी छवि किस नव भव की?

केसर-केश अभी उलझा सुलझाती मलय-बयार!
फाग-राग सुन-सुन गुमसुम मदमाती मलय-बयार!!

[विश्वास का उल्लसित पुरुष-स्वर]

जीवन नव जीवन-मद-माता!
जोड़ रहा है अनचीन्हों से
अनजाना, मनमाना, नाता!
यह निर्झर, यह पर्वतमाला,
सस्मित-आनन कानन-बाला,
पथरीला पथ, अथक पथिक यह–
बढ़ता जाता, बढ़ता जाता!
खिल-खिल हँसी बिखेर रहा है,
हुलस बाँसुरी टेर रहा है,
शिला हिलाता स्वर-कम्पन से;
कालिय का फलन झूम झुकाता!

आशा

[गद्‌गद स्वर से]

तुम यहाँ, विश्वास?

विश्वास

[चौंक कर]

हाँ,...
तुम यहाँ आशा?

[हँस कर]

अजब यह संयोग....सुरसरि और प्यासा!
गा रही क्या इस विजन में? शून्य वन में?

आशा

दे रही हूँ शुष्क मन को मधुर भाषा!

[हँसती है]

विश्वास

तनिक मैं भी तो सुनूँ!
मधुर भाषा–प्रेम–परिभाषा
तुम्हारी, मैं गुनूँ!
कल्पलतिका से कुसुम बरसे,
ललक कर मैं चुनूँ!

आशा

[हँसती हुई]

नयन कर लो बन्द, मन को छोड़ दो स्वच्छन्द,
कान खोल सुनो, सुनाती अटपटे जो छन्द!

[और-और हँसती हुई]

आशा औ' विश्वास जहाँ,
मङ्गलमय मधुमास वहाँ!

विश्वास

[तालियाँ पीटता हुआ]

हम दोनों का विरह जभी,
आता पतझर असह तभी!

[दोनों गाते हैं]

जीवन-वन में आई बहार!
आनन्द-इन्दु से रस-मरन्द
ले स्नेह-सुमन से मदिर गन्ध
उल्लसित, चकित हो मन्द-मन्द
बहती बयार अब बार-बार!
उन्मन उमङ्ग-सी कुञ्ज-कुञ्ज
छा रही शून्य में मञ्जु गुञ्ज;
सरसे स्मर-शर-से पुञ्ज-पुञ्ज
तोरण-अशोक, मन्दार-हार!

[सहसा एक अपरिचित नारी-कण्ठ सुनाई देता है]

आशा कोयल-सी बोल-बोल
है जगा रही लालसा लोल
यों तृषा-तृप्ति है रही घोल
विश्वास हो गया निर्विकार!

[दोनों चौंक कर]

कौन तुम मौन-पद आ गईं!
नयन में, प्राण में छा गईं!!

वासन्ती

[विहँस कर]

मैं हूँ वासन्ती, यों मेरा है यही नाम!
पर आशा औ' विश्वास रूप मेरे सकाम!

जब बुझा हुआ दिल सान्ध्य दीप-सा जल उठता,
मुरझाया मुख खिलता, तब होती पूर्णकाम!

ऋतु-परिवर्तन-जैसा सुख-दुख का चक्र यहाँ,
सन्ध्या-प्रभात की-सी नीरवता, धूमधाम!

आगत का स्वागत, यह विवेक की एक राह,
पीले पत्रों पर निकलें नव पल्लव ललाम!

अभ्युदय टिकाऊ होता सहज सचाई से,
आनन्द और क्या? निश्रेयस का ललित नाम!

पाषाणी

प्रथम दृश्य

[वाद्य-संगीत के पश्चात् अवसाद-भरे स्वर में कुटीर-द्वार से अहल्या गा गीत सुनाई देता है। साँझ का समय। आश्रम-द्रुमों पर पंछियों का कोलाहल। दूर एक कोने से हवन करते हुए किसी ऋषि का गम्भीर स्वर 'अग्नये स्वाहा, इदमग्नये; इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय' जब-तब सुनाई दे जाता है और सुदूर दूसरे कोने से ऋषि-कन्याओं के खेलने और चहकने की ध्वनि सुन पड़ती है। विषाद में डूबे और वेदना में खोए रहने पर भी अहल्या का कण्ठ-स्वर ही माधुर्य्य की अतिशयता के कारण सम्पूर्ण वातावरण पर छा जाता है।]

पावन वन-अञ्चल में क्योंकर
चञ्चल मन का दीप!
आश्रम में शरम; पर्ण-कुटी में—
स्वर्ण-सौंध के सपने!
कैसे ढहा किनारा जीवन-
धारा हुई प्रतीप!
पावन वन-अञ्चल में क्योंकर
चञ्चल मन का दीप!!
ये लहरें दुर्वार; तपोवन,
मत बन पारावार!
तू न गगन चढ़, पूर्ण चन्द्र—
उतरे तेरे न समीप!
पावन वन-अञ्चल में क्योंकर
चञ्चल मन का दीप!!

[ऋषि-कन्याओं की हँसी और चहक निकट से निकटतर होती जाती है। खिलखिलाहट-भरी इन्हीं कन्याओं के साथ राजकुमारी मल्लिका का प्रवेश]

मल्लिका

सन्ध्या की शीतल बेला में छेड़ा दीपक-राग!
आज बात क्या देवि अहल्या, लगी सलिल में आग?

मैं कल प्रात चली जाऊँगी, आई वन्दन-हेतु,
देख रही रस-धार यहाँ भीतर, ऊपर स्वर-सेतु!

[सोच्छ्वास]

देवि अहल्या, हुआ आज आश्रम में आना धन्य,
राजभवन को बतलाऊँगी—जीवन कहीं न अन्य!

आत्म-दमन ही नहीं लक्ष्य आश्रम-जीवन का एक,
जीवन का संगीत यहाँ भी आत्मा का अभिषेक!
किन्तु....

अहल्या

किन्तु क्या, सखी मल्लिका?

मल्लिका

[चिहुँक कर]

सखी मल्लिका? आप—
मुझे कह रही हैं? क्यों मुझ पर देवि, चढ़ातीं पाप?
आप तापसी हैं, मैं चरमों में बिछने के योग्य!
यह सम्मान कृपा के बदले क्योंकर हो उपभोग्य?

अहल्या

[विरस हँसी हँस कर]

मैं कब की तापसी! मल्लिके, तुम्हें नहीं कुछ ज्ञात,
मैं भी राजकुमारी ही थी कभी, भाग्य की बात—
बालापन में मुझे तपोवन मिला, शिला का स्नेह,
छाँव पेड़ की, धुआँ होम का और यूप की देह!

मल्लिका

[चौंक और उबल कर]

क्या कहती हैं देवि अहल्ये, क्या कहती हैं आप?
मेरे मन का गमन जलाती भेद-भरी यह भाप!

आत्मा का खौलने, उबलने लगा सजल तल-स्रोत,
लगता, जैसे लुब्ध कृषक ने दिया तपोवन जोत!

चरमरा उठे हरित-भरित द्रुम, धूम हुआ अङ्गार!
ये निरीह मृग-शिशु, बन बैठे, व्याघ्र-सिंह-अवतार!

हैं कुटीर जलते-से दिखते, दावानल की ज्वाल—
फैल रही ज्यों ताम्र, कपिश, कनकाभ, पिङ्गऔ' लाल!

अहल्या

[विरस हँसी के साथ]

शान्त मल्लिके, बर्फीले कुहरे का तना वितान,
साम-गान करता न ग्रहण सखि, आग-राग का स्थान!

[अतिरिक्त हँसी हँस कर]

भेद नहीं, मेरे जीवन को समझो पञ्चम वेद,
यह न अनास्वादित रस, नूतन यह पुराण का स्वेद!

[रुक रुक कर]

मेरे माता-पिता बहुत दिन तक रह निस्सन्तान—
ऊब उटे थे राज-काज से; लगता सौध मसान;

जोग-जाप से हार चुके थे; त्याग चुके थे आस;
जीवन दुर्भर भार हुआ था; गिनते छिन, दिन, मास!

तभी एक दिन दिखे महामुनि गौतम; सुनकर हाल—
कहा उन्होंने—"नए अक्षरों से सज सकता भाल!

"मैं केवल तप के बल दे सकता शत-शत सन्तान,
यदि पहली सन्तान मुझे दे दो सहर्ष कर दान!"

आतुर माता-पिता साथ ही बोल उठे,-"स्वीकार!
प्राणों के बदले भी वाञ्छित हमें वंश-विस्तार!!"

[सोच्छ्वास]
पिता प्रतिश्रुत थे, क्या होता, करना पड़ा अकार्य्य!

मल्लिका

शान्त पापम्! होत्री ही हैं आप! आह! आचार्य्य-

हैं महर्षि गौतम? जीवन बन गया यज्ञ का स्वाङ्ग?
साँस साध कर नाक-नोक पर निश्चल नयन-अपाङ्ग?
शान्ति इसे मैं समझ रही थी! कोलाहल से दूर-
थी विनोद के लिए यहाँ आई जो! थक कर चूर-

हुई सविष इस ऐकान्तिकता से परन्तु! यह शान्ति?
तिल-तिल जल कामना, धुएँ की शीतलता ही शान्ति!!

अहल्या

शान्त मल्लिके, ऐसी चञ्चलता का भी क्या काम!
मन का गुण संयम; विवेक का तुमने सुना न नाम?

कभी प्रशान्त तोपवन दिखता, कबी अनल-आगार!
मैं अङ्गार-हार दिखता हूँ या शीतल जलधार?

अब विवाह के योग्य हुई तुम, छोड़ अप्सरा-लोक-
तुम्हें विचरना है यथार्थ-जीवन में अभय, अशोक!

मल्लिका

क्षमा देवि,जीवन-यथार्थ से ही तो मैं डरती हूँ,
राज-भवन तज तभी तपोवन-आश्रम पर मरती हूँ!
किन्तु यहाँ भी....

अहल्या

शान्त मल्लिके, यहाँ न कोई दोष!
जो मेरी अपनी दुर्बलता उस पर ही आक्रोश–

होगा समुचित; रोष-योग्य तो मेरा ही व्यवहार;
कैसे मेरा स्वच्छ क्षार बन गया रक्त अङ्गार!

क्यों वर्षों से समाधिस्थ को जगा दिया झकझोर?
मैं तो वैसी रात कि जिसका होता कभी न भोर!

[हँस कर]

एक भेद की बात कि तुम हो पूर्ण चन्द्र का रूप!
सागर का अभिनय क रता है मेरा जीवन-कूप!!

[बालिकाओं का दल शोर मचाता आता है]

राजकुमारी, शीघ्र चलो, करने हैं कितने काम!

अहल्या

प्रास्थानिक स्वस्त्ययन? और कोई सकाम-निष्काम?

मल्लिका

क्षमा देवि, मैं चली; निशा का शेष प्राथमिक याम;
मुखर मल्लिका का वाष्पाकुल कण्ठ.....अशेष प्रणाम!

बालिकाएँ

देवि अहल्ये, आप इन्हें झटपट दें आशीर्वाद,
वर अनुरूप मिले कि मिले जीवन का सच्चा स्वाद!

[हँसते-हँसते प्रस्थान]

द्वितीय दृश्य

[डेढ़ पहर रात बीत चुकी है। महर्षि गौतम थके पाँवों से कुटीर-प्राङ्गण में प्रवेश करते हैं। खड़ाऊँ की खटखटाहट सुनायी पड़ती है। एक उच्छ्वास छोड़कर बैठ जाते हैं। स्वर में थकान, किन्तु बातों में उत्साह है।]

गौतम

है देवि, दिख रहा मुख सूखा,
रक्ताभ, नमित ज्यों सान्ध्य कमल!
क्या बात, तुमहारा चित चञ्चल?
क्या बात, तुम्हारे दृग छल-छल?

अहल्या

क्या बात भला होगी? वैसे
अब मैं क्या हूँ, अधखिली कली!
जो मुनिवर का मन खिला, खिलूँ,
मुरझाने पर भी लगूँ भली?

गौतम

क्या कहती हो! ये नयन आज–
भी तो उतने ही हैं पावन!
कोमल-निर्मल भावों से भर–
उमड़े ऊदे ये सावन-घन!

[रुक रुक कर]

यौवन क्या तन का ही तनाव?
मन का या ललित लचीलापन?
तुम तो मनस्विनी हो! तपस्विनी–
का उन्नत संयत जीवन!

अहल्या

बस, बस, तप की मत बात करें,
तपते-तपते मन ऊबा है!
मेरे जीवन का फुल्ल कमल
आँसू के सर में डूबा है!

तरुणाई मन की कोमलता,
तो क्यों इतना तन तनता है?
क्यों भवें खिंची रहतीं? दृग से–
सीधा न देखते बनता है!

[अलस अँगड़ाई के साथ]

मृगमद तो जान रहे मुनिवर,
दृग-मद वैसी ही होता है,
पागल हो जाता है मन-मृग
अपनी सुगन्ध में खोता है!

गौतम

संयम की यहीं अपेक्षा है;
पागपन क्या सुखदायक है?
स्वर-संयम ही संगीत!
कि उच्छृंखल गायक क्या गायक है?

अहल्या

[जमुहाई लेकर]

यह तो शब्दों का हेरफेर,
स्वर-संयम स्वर-संगम भी है!
गायक कुछ ग ाए, रागों का–
अपना संभ्रम, सरगम भी है!

गौतम

[सस्मित स्वर से]

क्या बात कि तुम हो भ ावाकुल?
होंठों से मधु-सा झरता है!
यह नोकजोंक प्यारी लगती,
विषयी तो इस पर मरता है!

अहल्या

[मधुर व्यंग से]

जीनेवाले चुप जीते हैं,
क्यों आप किन्तु चिन्तित इतने?
मैंने ऐसे रोते-हँसते
काटे जीवन के दिन कितने!

[विसर हँसी हँस कर]

हाँ, नई बात है यही हुई
मल्लिका कि मिलने आई थी,
उद्यान-कली वन की रूखी–
डाली पर खिलने आई थी!

गौतम

[विस्मय से]

मल्लिका कौन?

अहल्या

[एक झटके के साथ]

इस प्रतिवेशी जनपद की राजकुमारी है!
आश्रम में हैं न महादेवी!
उनकी ही पौत्री प्यारी है!

[हँस कर]

वानप्रस्थाश्रम में देवी,
प्रथमाश्रम में वह सुकुमारी,
पर जब दोनों आश्रम मिलते,
मिलती है नारी से नारी!

[बड़ी लापरवाही के साथ]

ममता का त्याग नहीं संभव,
कहने-सुनने की सब बातें!
कुछ वेद कहें, कुछ धर्मशास्त्र,
जीवन की अपनी ही घातें!

गौतम

[ठठा कर]

अब समझा!

अहल्या

[चौंक कर]

क्या?

गौतम

[निश्चिन्त भाव से]

बस यही कि राजस-भाव
रोग-सा संसर्गज!
है तुम्हें छू गया अनजाने,
अन्यथा कहीं पङ्किल पङ्कज?

अहल्या

[जमुहाई ले, उँगलियाँ चटखा कर]

सात्त्विकता की सूखी पपड़ी
राजस-रस से गीली होती,
मिट्टी की धरती नम होती,
अन्यथा....[जमुहाई आने लगती है]

गौतम

अन्यथा [आँखें चमक कर बड़ी हो जाती हैं]

अहल्या

अन्यथा कि पथरीली होती!

[ऋषि की आँखों की चमक बुझ जाती है : वे छोटी पड़ जाती हैं।]

सात्त्विकता छुईमुई ऐसी,
जीवन कठोर, नीरस ऐसा!
ऐसे में कैसे हो विकास?
गतिहीन हृदय परवश कैसा!

गौतम

[उपदेश की मुद्रा में]

सात्त्विकता की उपलब्धि कठिन,
इसलिए साधना की महिमा!
जैसे-जैसे बहना ही जो–
उद्देश्य, व्यर्थ लघिमा, गरिमा!

[अहल्या अँगड़ाई और जमुहाई लेती है]

मैं तुम्हें सुनाना चाह रहा
अब इस प्रसङ्ग में एक कथा,
शीतल, मधुमय हो जाएगी
सुन जिसे तुम्हारी मनोव्यथा!

.....

थीं कात्यायनी और मैत्रेयी
याज्ञवल्क्य की भार्याएँ,
दोनों सुशील, गुणवती, पतिव्रत–
में निष्णाता आर्याएँ!

यों प्रकृति सौम्य थी दोनों की,
आकृति प्रसन्न थी दोनों की,
पर प्रकट भिन्नता दोनों की–
निष्कपट दृष्टि के कोणों की!

लौकिकता से थी बँधी प्रथम,
दूसरी अलौकिक, विज्ञा थी,
थी कात्यायनी सुमति; पर–
मैत्रेयी की पैनी प्रज्ञा थी!

जब याज्ञवल्क्य गार्हस्थ्य छोड़
संन्यासाश्रम की ओर बढ़े,
आत्मिक विकास के एक शिखर–
से अपर शिखर पर सबल चढ़े,

तब कहा एक दिन मैत्रेयी से–
"कर लो दोनों बटवारा,
जो भी संचित धन है घर में
उसका हो जाए निबटारा!"

हो कात्यायनी प्रसन्न गई,
झंझट-पटपट की बात न थी,
सच, जीवन-हेतु सुवाञ्छित धन!
सो, उसको खटकी बात न थी!

पर मैत्रेयी थी शुद्ध,, बुद्ध,
उसको यह धन अपदार्थ लगा!
उसने कर जोड़े,–"महामुने,
मुझमें ऐसी दो ज्योति जगा!
जिससे मिट्टी का सम्मोहन
मेरे मन को न कभी मोहे!
जो अमृत, अमर, जो अविनश्वर,
बस केवल वही मुझे दो हे!"

[रुक कर साँस लेते हैं।]

मैत्रेयी ने जो कहा, अहल्ये,
बतलाओ, न, सही था क्या?
जो कात्यायनी समझ पाई,
जीवन का अर्थ वही था क्या?

सकुचो न अहल्ये, तुम अपना
अभिमत निर्भय हो प्रकट करो,
जो दूर-दूर-सा लगता है,
कह-सुन कर उसको निकट करो!

[चौंक कर]

सो गईं अहल्ये? कुछ न सुना?
प्रारम्भ-समय से सोई हो?

[दु:खित होकर]

ऊपर-ऊपर से भी न हँसीं,
हा! इतना कितना रोई हो!
हा रे गौतम, तेरे तप का,
साधन-विराग का, जीवन का—

[सोच्छ्वास]

क्या मूल्य अहल्या के दृग में!
क्या दबा भाव उसके मन का!

तृतीय दृश्य

[आधी रात का सन्नाटा। बाहर झींगुरों की झंकार। दूर कहीं पपीहा पुकारता है। सन्नाटा और गहरा जाता है. अहल्या सोई हुई है। गहरी साँस ले कर 'ऊँ हूँ....' कहती हुई करवट बदलती है। स्वप्न में पहले गुनगुनाती फिर धीरे-धीरे गाती है....]

सौरभ-बसी तरङ्ग, शिथिल ये, अङ्ग उमंग उछाल—
कहाँ बहाए लिए जा रही? मैं तो हूँ बेहाल!

यह सर है, सरि है या सागर?
चञ्चल जल गुदगुदी लगाता,
भँवर कहाँ, यह तो नटनागर!

कोई मुझे पुकार रहा है, मेरा शिथिल शरीर!
अच्छा लगता था बहना ही, क्यों आ पहुँचा तीर?
तुम हो कौन तरुण अतिसुन्दर?
तुम्हें निहारें सुर-सुन्दरियाँ,
क्या पाओगे मुझे घूर कर?

हल्के-फुल्के उजले बादल, रंग-बिरंगे फूल,
लाल-लाल पीली-पीली उड़ती कुंकुम की धूल,
यहीं कहीं क्या नन्दन-वन है?
हिलते पारिजात-हरिचन्दन,
शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन है!

उजली-धुली जटा मुनिवर की, पर ये श्यामल केश,
अन्धकार बहुमूल्य हो गया आ प्रकाश के देश!
देवराज हो या हो देवर?
मेरा मन तो महारण्य है,
और कहीं ढूँढ़ो अपना घर!

[आकाश-वाणी-सा दूर से आता हुआ पुरुष-स्वर]

सुन्दरी, मुझसे न होना भीत,
मैं तुम्हारी कामना का मीत!
है तुम्हें मुझसे अछूता प्यार,
मैं तुम्हारे स्वप्न का विस्तार!

अहल्या

['उहुँक' कह तनिक हँस कर स्वप्निल स्वर में]

किन्तु मैं तो हूँ न तुमको जानती,
बाँह छोड़ो....

[पुरुष-स्वर]

व्यर्थ क्यों हठ ठानती!
देवलोक विराट्, देखो, सामने!
स्वर्ग का सम्राट्, देखो, सामने!

अहल्या

[गद्‌गद होकर]

देवराज! कि स्वप्न सुन्दर देखती?
भाग्य ऐसा मैं न अपना लेखती!

[पुरुष-स्वर में उतावलापन]

भाग्य औ' सौभाग्य अब क्या कह रही?
पास रहकर विरह का दुख सह रही!
तुम समा जाओ नयन में, प्राण में,
ऋषि-ऋचे, अब बदल जाओ गान में!

अहल्या

ऋषि!....

[झटका देकर]

छुड़ा लूँ, छोड़ते हो बाँह या?
चमत्कार हथेलियों का क्या नया!

[व्यंग से]

क्यों तुम्हारा कण्ठ बैठा जा रहा?
काँपता स्वर, शब्द ऐंठा जा रहा?

[खीझ और झल्ला कर]

नाचते-से नयन, वदन विवर्ण है,
इन्द्र पीतल का कि खाँटी स्वर्ण है?

[दाँत पीस कर]

धिक्, यही जो स्वर्ग का संभार है!
पाप का तन, पुण्य का शृङ्गार है!

['किन्तु.....सुनो तो.....' ऐसे गिड़गिड़ाहट-भरे पुरुष-स्वर को झिड़क कर]

ऋषि कहीं 'इन्द्राय स्वाहा' कर न दे,
भाग जा रे शाप, मुझको वर न दे!

['भागो'–'भाग जाओ' कहती हुई अहल्या उठ बैठती है। उत्तेजना से उसकी साँस धौंकनी की तरह चलती रहती है। महर्षि गौतम चौंक कर जाग जाते और 'क्या हुआ?' कहते हुए उचक कर उसके पास आते हैं।]

गौतम

क्या हुआ? किसको भगाती थीं अभी?
स्वप्न से किसको जगाती थीं अभी?
था भयानक स्वप्न? इन्द्र अभय करें!
वरुण, पूषा, तार्क्ष्य भव का भय हरें!!

अहल्या

[चीख कर]

इन्द्र का मत नाम लो, कर जोड़ती,
मैं नहीं हूँ धर्म से मुँह मोड़ती,
किन्तु क्या है इन्द्र, तुम क्या जानते?
क्षुधित भक्षक, जिसे रक्षक मानते!

गौतम

[चौकन्ने होकर]

इन्द्र–भक्षक? कह रही क्या बात हो!

[मुर्ग बाँग देता है]

सो रहीं अब भी कि जैसे रात हो!
ब्रह्म-वेला किन्तु अब है, हो चुकी,
पाप तम का हैं दिशाएँ धो चुकी,
उठो, जागो, शुद्ध श्रद्धा से झुको,
कर्म-यात्रा के लिए क्षण भर रुको!

[क्रम-क्रम से पक्षियों का चहचहाना, गाय-बछड़ों का रँभाना, ऋषि-कुमारों का खड़ाऊँ खटखटाना सुनायी पड़ता है। उपयुक्त वाद्य द्वारा 'भैरवी' का आकार खड़ा होता है। ऋषि-कुमार गाते आते हैं]

प्रिय प्राण प्रबुद्ध हमारे हों!
नभ के तारे हों मलिन; किन्तु
निर्मल नयनों के तारे हों!
नित कान साम का सुनें गान,
नासिका होम का करे घ्राण,
चेतना सोम में ऋतु-स्नान,
संकल्प कर्ममय सारे हों!
नित संवर्धित हों यज्ञ-याग,
जिनमें जल जाएँ द्वेष-राग,
पाएँ सब अपना प्राप्य भाग,
ऋत के ऋजु सत्य सँवारे हों!
वे स्वप्न न आएँ आखों में,
जो दीप्त नहीं हों लाखों में,
मन-गमन समेटे पाँखों में,–
उड़ते जो सत्य-सहारे हों!

गौतम

[अकचका कर]

प्रात-सन्ध्या-हेतु अब मैं भी चला!

अहल्या

[गिड़गिड़ा कर]

स्वयं को मुझसे नहीं जाता छला!

धर्म को होता नहीं भय पाप से,
डर रही मैं किन्तु अपने आप से!

मत अकेली छोड़ तुम जाओ कहीं,
करो सन्ध्या, साम या गाओ यहीं!

सब समझते हो, जभी तो मौन हो,
जानती क्या मैं नहीं,–तुम कौन हो?

मैं तुम्हारे पाँव पड़ती, मत तजो,
पास बैठो, फिर जिसे चाहो, भजो!

[गौतम खड़ाऊँ पहने हुए कुछ कदम चलते फिर ठिठक कर 'स्वगत' कहते हैं]

गौतम

आप से तुम पर उतर कर आ गई,
चाँदनी-सी चेतना पर छा गई!

भाव-विह्वलता कभी निरखी नहीं,
माधुरी ऐसी अमोल चखी नहीं!

आज जर्जरता न मेरी खल रही,
स्नेह-हीन प्रदीपिका है जल रही!

[उमंग से तरङ्गित होकर]

जो भयानक स्वप्न, तुम कितने मधुर!
तप्त उर में भर दिए जो सप्त सुर!!
और पहले क्यों हीं तुम आ सके?
जब किशोरी थी अहल्या, गा सके?

अस्तु, जब आए तभी स्वागत करूँ!
स्वप्न हे, उन्नत हृदय, दृग नत करूँ!!
क्या कहूँ, क्या-क्या अहल्या कह रही,
कठिन कुण्ठा, घुटन दु:सह सह रही!

[जल्दी-जल्दी लौट आकर]

आज मेरे मोद की सीमा नहीं,
यह न अटता–तुच्छ नभ, छोटी मही!

[विहँस कर गद्‌गद स्वर से]

लालसी थी, तुम कहो–'प्रिय', मैं–'प्रिये!'
पूर्ण आज हुई; झिझक फिर किसलिए?
पास आओ, तो बताऊँ प्रेयसी!
स्वर्ग में तुम-सी न रम्भा, उर्वशी!!
हार कर प्रत्यक्ष गृह के स्वर्ग को,
यज्ञ से था जीतता किस स्वर्ग हो?

['नहीं, नहीं' कहती हुई अहल्या पीछे हटती है। क्षोभ और आक्रोश से उसकी साँस फूल रही है। वह रुक-रुक कर, किन्तु उत्तेजित स्वर में स्वगत बोल उठती है।]

अहल्या

मैं विकल हूँ, यह मनाते मोद हैं!
मृत्यु को मैं, खोजते यह गोद हैं!!
मैं मरूँ, तो देह पर अधिकार हो!
मृतक मन को उचित–शव पर प्यार हो!!

[प्रकट : गौतम से]

क्षमा मुनिवर, जग सकी हूँ मैं अभी,
नींद ऐसी आह! आती जब-कभी!

[साँस ले कर]

'इन्द्र-इन्द्र' यहाँ सभी रटते रहे,
धूम धधका, यज्ञ ने तन-मन दहे,
रूप उनका कल्पना से आँकती,
गगन चढ़ नीहारिका से झाँकती,

[कुण्ठित कण्ठ से]

चेतना मेरी न रह पाई सती!
इन्द्र का सपना सदा मैं देखती!!

गौतम

[आर्त स्वर से]

ओ अहल्ये, अन्त तक तुम ठीक,
चली पकड़े आदि से ही लीक!
मैं हुआ विचलित, हुआ मैं भ्रष्ट,
दुर्निवार नियति, हुआ मैं नष्ट!

[उच्छ्वास छोड़ कर]

यज्ञ-पत्नी तुम बनो, इस ब्याज–
था तुम्हें लाया, हुआ वह काज!
पूर्ण मेरा आज जीवन-याग,
रहा तुमसे अब न द्वेष, न राग!
साधना को मिल गया विश्राम,
पा गया मैं मुक्ति, मृत्यु, विराम!

['आह' कह कर कराहते हुए स्वर में अपने-आप]

तप हुआ निष्फल, विफल स्वाध्याय!
क्या पढ़ा था, क्या किया यह, हाय!
अध्ययन औ' आचरण का भेद,
यह कहाँ पहुँचा बहा कर स्वेद!

सूक्तियाँ मुख का सजल शृङ्गार!
शुष्क मन में धूम औ' अङ्गार!!

[फिसफिसा कर]

साधना को मिल गया विश्राम,
पा गया मैं मुक्ति, मृत्यु, विराम!

अहल्या

[कातर स्वर से]

मुझे निज अस्तित्व से आक्रोश,
क्षमा मुनिवर, यही मेरा दोष–
मैं रही न प्रसन्न और न रुष्ट,
आपकी ही दृष्टि से सन्तुष्ट!

[और अधिक आहत तथा व्यथित होकर]

'वज्रधर' का जब बताते शौर्य,
मैं निरखती 'इन्द्र' का सौन्दर्य!
'मेघवाहन' का सुनाते नाद,
तड़ित से सुनती मधुर-संवाद!
तुम दिखाते यज्ञ का परिणाम,
चाहती मैं, हो 'शची'-सा नाम!
इन्द्र-धनु से रँग गया संस्कार,
इन्द्रजाल हुआ कि उपजा प्यार!
आपका आराध्य–यज्ञाधार–
भर गया उर में अपार विकार!

गौतम

[आर्त स्वर से]

बस करो, अब तो न बोलो और,
मर चुका, मत ग रल घोलो और!

[कम्पित स्वर]

यज्ञ का क्या, स्वर्ग का यह सार!
तप गया तुमसे अहल्ये, हार!!
नाम मेरा तुम पुकार-पुकार,–
कहो,–गौतम, है तुम्हें धिक्कार!

[दाँत कटकटा कर अपने-आप]

भेद नारी-हृदय का, वह भेद,
एक क्या, समझे न चारों वेद!
परख नारी, अमर की नर-जाति,
नर अमर! जँचता तुझे किस भाँति!

[शान्त स्वर से]

अर्थ, काम कभी न धर्म-समान,
धर्म ही पुरुषार्थ का है प्राण!
शुद्ध हो धरती, गगन चिर-शुद्ध!
घोर पातक 'काम' धर्म-विरुद्ध!!

[वाद्य-विशेष से प्रभाव बदल कर]

सुन्दरता की करे प्रशंसा, करे प्रशंसा रूप की,
नारी, रानी बन जाती है तू उस कल्पित भूप की!

तेरी तरुणाई गाई जाए जो कोमल बोल से,
नत चितवन, चित हो प्रमत्त, कुन्तल लहरें कल्लोल-से!

चाटुकारिता-बीन बजे तो ठगी रहे हिरनी बनी,
ज्ञान-कम्बु जो हुआ निनादित तो उद्‌भ्रान्त भवें तनीं!

देह-मोह! आसक्ति शक्ति से! अपनी-अपनी दृष्टि है!
विरज लोक भी एक किन्तु, यह तो मिट्‌टी की सृष्टि है!!

अहल्या

[सिसक कर]

नारी मात्र कदर्थित क्यों हो!
पास अहल्या आप के!
जो चाहें सो इसे कहें,
यह योग्य दण्ड के, शाप के!

यह विष-लता, आप चन्दन-तरु,
वर्षों का सहवास भी,
पर कैसा दुर्भाग्य, न पाया–
इसने सहज सुवास भी!

गौतम

['नहीं, नहीं, नहीं' कहकर....]

आत्म-वञ्चना मैंने की है,
दण्डनीय मैं आप ही,
पुण्य से न जो तुम्हें पा सका,
मेरा जीवन पाप ही!

मेरा लक्ष्य अलक्ष्य; किन्तु तुम
बढ़ती गईं अनन्त तक,
हो परिपूर्ण महत्त्वाकाङ्क्षा,
सफल आदि से अन्त तक!

[मूर्च्छित हो जाते हैं।]

अहल्या

[लम्बी साँस लेकर]

मौन हुए मुनिवर? परन्तु यह मौन भरे अनुताप है,
मुझे भस्म कर दे, ऐसा क्या कोई शेष न शाप है?

[उत्तेजना से काँपते हुए स्वर से]

ध्यान, धारणा से समाधि से जीत जिसे पाए न तुम,
वह मन मेरे भी न वश हुआ! ऋषि, उसमें आए न तुम!

मैं युवती, तुम जरा-जर्जरित, इस बलते-से सत्य को,
धर्म, ज्ञान, तप बुझा न पाए; जला न पाए तथ्य को!

आज अनावृत आत्मा लेकर खड़ी हुई जब सामने,
दिशा-दिशा से गूँज उठ रही–'धिक्-धिक् असफल कामने'!

हाँ, मैं असफल ही तो हूँ, पर इस जीवन को क्या करूँ?
ज्ञान न पाया, मिली न माया, मर मर कर फिर क्या मरूँ?

[ठीक इसी समय पूर्वोक्त ऋषिकुमार-गण स्नान कर दूर से गाते हुए लौटते हैं :]

प्रिय प्राण प्रबुद्ध हमारे हों!
नभ के तारे हों मलिन; किन्तु–
निर्मल नयनों के तारे हों!

[स्वर कुछ अधिक स्पष्ट होता है। एक-एक पंक्ति अलग-अलग गले से गाई जाती है।]

वे स्वप्न न आएँ आँखों में,
जो दीप्त नहीं हों लाखों में,
मन-गगन समेटे पाँखों में–
उड़ते जो सत्य-सहारे हों!

[ऋषिकुमार गाते-गाते आगे बढ़ जाते हैं। तब एक गूँज अहल्या के हृदय को झंकृत करती है–'मैं क्या हूँ? मैं क्या हूँ?' तभी मूर्च्छित गौतम मुनि के मुँह से सहसा एक उष्ण उच्छ्वास निकल पड़ता है–'पाषाणी!' 'पाषाणी!' समस्त वातावरण 'पाषाणी'-'पाषाणी' की ध्वनि-प्रतिध्वनियों से भीषण हो जाता है। अहल्या बड़े जोरों से चीख उठती है–"न....हीं....!" फिर रो-रो, सिसक-सिसक कर कहती है–"मुनिवर....पाषाणी नहीं....न....हीं....!" कुछ देर तक रोने-सिसकने के बाद करुण स्वर में पहले गुनगुनाती, फिर गाने लगती है:]

सूखी आँखों का पानी हूँ!
कैसे कहते–पाषाणी हूँ?

नारी हूँ, यह है बात प्रथम,
हारी हूँ, स्वीकृत घात चरम,
अन्तर्द्वन्द्वों में जले-बुझे–
जीवन की तृषित कहानी हूँ!
कैसे कहते–पाषाणी हूँ!!

दिन भर झरते हैं विकच सुमन,
भर रात टूटते तारक-गण,
है शुष्क धरा, है शून्य गगन!
मैं भावुकता,–नादानी हूँ!
कैसे कहते–पाषाणी हूँ!!

तन तो तन है, पर मन क्या है?
आदर्श नहीं, जीवन क्या है?
मरु-उर क्या? लोचन-घन क्या है?
निर्बल, शङ्काकुल प्राणी हूँ!
कैसे कहते–पाषाणी हूँ!

पर्वत चुप, सिन्धु गरजता है!
रे, किसको कौन बरजता है?
क्या ऊँचाई! क्या गहराई!
मैं तो समतल की वाणी हूँ!
कैसे कहते–पाषाणी हूँ!!

[क्रम-क्रम से कण्ठ-स्वर वाद्य में विलीन हो जाता है।]

❑

मञ्जरी

प्रथम दृश्य

[वाद्य-यन्त्र अनन्त बसन्त का वातावरण बनाते हैं। अन्त में सितार के तार ही सङ्कृत होते रह जाते हैं, जिनमें से यह सरस पुरुष-स्वर फूटता, फैलता है।]

राजा

आया है ऋतुराज साज सज,
सुन्दरि, आँखें खोलो!
रस से अलसाई पाँखें
नभ में उड़ने को तोलो!!

मुख-कुंकुम के बिना खुले
मुख की सुषमा पाटल-सी,
होठों की निखरे अरुणाई
परिणत बिम्बाफल-सी,
झलमल झलकें दन्त-रत्न,
मुसका-मुसका कुछ बोलो!
आया है ऋतुराज०

मलय-पवन बिथुराती अलकें,
गिरह लगाती उर में,
प्राणों की वीणा बज उठती
अनजाने-से सुर में,
फुल्ल मल्लिका के कोषों में
चम्पक का मद घोलो!
आया है ऋतुराज०

यह सुगन्ध शीतल कपूर की,

मन्द-मधुर चन्दन की,
किस सुदूर के लिए, न जाने,
हुई तीव्र गति मन की,
एकाकी लड़खड़ा न जाऊँ,
संग-संग तुम डोलो!
आया है ऋतुराज०

रानी

महाराज की दृष्टि गगन में,
मैं चरणों के पास!
कैसे दिखे प्रदीप-शिखा को,
तम का निम्न निवास?

राजा

ऐसी भी क्या बात दक्षिणापथ की राजकुमारी?
तुम मेरे जीवन-समीर की महमह केसर-क्यारी!

रानी

[सस्मित-सलज्ज स्वर से]

शपथ ताम्रपर्णी की, मैंने—
भी था किया विनोद!
ताम्बूली-सी, कङ्कोली-सी
रही मनाती मोद,

मेरे सम्मुख मलय-समीरण-से
दक्षिण हैं आप,
नारिकेल से बड़े विदूषक
रोक खड़े रवि-ताप!

ऊँचाई के नीचे, प्यारी—
धूप-छाँह में खेल,
बढ़ती गई तने से फुनगी—
तक मेरी वय-बेल!

राजा

फुनगी तक! क्या कहती हो?
फूटी पूरी न लुनाई!
अरुणाई ढली कि
चाँदनी-सी चमकी तरुणाई!

रानी

स्वर्ण-रजत का अन्तर समझूँ,
पाई इतनी बुद्धि,
बिना धूप में आए होती–
कभी रूप की शुद्धि?

['ही-ही ही-ही' करता हुआ विदूषक आता है।]

विदूषक

आप कपोत-कपोती, जब–
देखो तब, चोंच मिलाए–
करते रहते अहा! घुटर-घूँ,
मुग्ध प्रजा बलि जाए!

काक-कठोर विदूषक ने
कोयल का स्वाङ्ग बनाया,
ले सन्देश वन्सतागम का
निकट आपके आया–

किन्तु आप दोनों पहले से
रति औ' काम बने हैं,
मौलसिरी-सहकार लचे,
माधवी-अशोक तने हैं!

नशा वसन्ती चढ़ा हुआ है,
दृग में मानस उतरा!
डूबा-डूबा-सा लगता जग?
पुलिन न कोई उभरा?

राजा

बहक रहे हो बहुत, विदूषक,
मुँह का आदि न अन्त!
बदला-बदला कण्ठ लग रहा,
व्यापा तुम्हें वसन्त!

कौन अधिक आकर्षक लगता—
धरती या आकाश?
अपनी रुचि की बात बताओ,
रहने दो परिहास!

विदूषक

टटके-टटके भात-सरीखे
सिन्दुवार के फूल,
जमा भैंस का दही, कि फूला
यह विचकिल आमूल,

धरती बैठी हुई सजा कर
अपने हाथों थाल,
महाराज, त्रिभुवन भोजनमय,
क्या वसन्त का काल!

राजा

वाह, विदूषक, वाह! तुम्हारा
सफल कपिञ्जल नाम!
रानी, हँसो! हँसूँ मैं भी,
हो पूरा कपि का काम!

[राजा-रानी दोनों हँसते हैं।]

राजा

सन की रस्सी पर पानी के
छींटे दिए अनेक,
और अकड़ बढ़ गई! रस हँसा,–
क्या रस्सी की टेक!

भोले ब्राह्मण, फूल-फलों से–
भर भी पाया पेट?
या पूरे वसन्त का वैभव
करूँ पेट की भेंट?

स्वार्थी मित्र, हमें भी लगती
कभी भूख या प्यास!
भूखा-प्यासा हमें रखोगे?
हम न तुम्हारे पास?

विदूषक

बात पते की कही आपने!
मेरा उदर उदार–
भर जाता काल्पनिक सुखों से–
भी, अद्‌भुत व्यापार!

किन्तु आपका जी भरने को
कितने शीत-वसन्त–
मर-पच जाते हैं! मिलता क्या–
गहराई का अन्त?

मनमोदक खानेवाले को
जग पेटू कहता है!
किन्तु सर्वभक्षी चिर-भूखे–
पर वह चुप रहता है!!

[हँस कर]

महाराज उखड़े-उखड़े-से
आज मुझे लगते हैं!
आँख मूँदने पर मेरे–
सच्चे सपने जगते हैं!

स्वर्ण-ताम्र-पिञ्जरित आम्र की
मञ्जु मञ्जरी खाएँ,
पिएँ सुरभि केसर-अशोक की,
गुनगुन-गुनगुन गाएँ!

[किसी की खड़ाऊँ की आवाज सुन कर चौंकता है, फिर मुँह बना-बना कर कहने लगता है :]

मुण्डित सिर, मस्तक पर टीका
–फीका मङ्गल तारा!
वज्र - कपाट - सपाट - वक्ष–
पर अक्षत, चन्दन, माला!

अद्‌भुत रूप, निराली सज-धज,
पतल कटि नाहर-सी,
चरण-पादुका से धँस जाती
धरती, गति करिवर-सी,

भैरव-सा आकार, शूल-धर,
कौन चन्द्रशेखर-सा?
आया है मधुमय वसन्त में
यह पागल पतझर-सा?

रानी

[तिनक कर]

बन्द करो बकवास विदूषक,
ये मेरे गुरुवर हैं!

विदूषक

[गिड़गिड़ा कर]

क्षमा महादेवी, हम इनके
भक्त, दास, किङ्कर हैं!

राजा

[विदूषक से]

नाम भैरवानन्द, विदूषक,
ये रमते योगी हैं!
देवी के नाते हम भी
इनके प्रसाद-भोगी हैं!

[भैरवानन्द अट्टहास करता है : "योगी और भोगी! अच्छा जोड़ा मिलाया महाराज ने! अच्छी जोड़ी है न यह, महारानी! राजा-रानी! योगी-भोगी!" ठठा कर हँता है।]

राजा

[स-संभ्रम]

मान बुरा क्या गए योगिवर?

भैरवानन्द

भला चाहनेवाला मैं!
भोग-योग की गहराई का
सहज थाहनेवाला मैं!

विदूषक

[हँस कर]

अच्छा गुरुवर, पाद्य, अर्घ्य,
आसन तो ग्रहण करें पहले,
बड़ खड़े हों, शेषनाग से
तब कैसे धरती सँभले!

भैरवानन्द

[गर्वीले स्वर में]

मैं सँभाल लूँगा अशेष को,
शेष तुम्हारा कितना है!
बिठलाए अम्बर को भू पर
किसमें साहस इतना है!

रानी

[विदूषक को झिड़क कर]

क्यों गुरुवर के मुँह लगते हो?

भैरवानन्द

[अट्टहास कर भारी स्वर में]

अभी विदूषक बच्चा है!
देश-काल का ज्ञान नहीं है,
फिर भी ब्राह्मण सच्चा है!

[साँस लेकर]

चमत्कार कुछ इसे दिखाऊँ,
जभी दिखें दिन में तारे!

[विदूषक से : हास्य-गर्भ-रूक्ष स्वर में]

खड़े रोंगटे करूँ विदूषक?
कर दूँ खड़े केश सारे?

विदूषक

[गिड़गिड़ा कर]

कान पकड़ता हूँ मैं अपने,
चरण आपके हूँ छूता!
एक पाँव में रहे खड़ाऊँ,
एक पाँव का मैं जूता!!

चमत्कार दिखलाना हो तो
महाराज को दिखलाएँ!
भुक्ति-मुक्ति के योग्य उन्हें ही
मन्त्र-तन्त्र कुछ सिखलाएँ!

भैरवानन्द

[हँस कर राजा से]

अच्छा राजन्, प्रथम आपके–
मन की बात बताऊँ मैं,
अभी आप जो सोच रहे हैं,
ह प्रत्यक्ष दिखाऊँ मैं!

[झम्-से एक तरुणी का हिंडोले से उतरना और कहकहे लगाना सुनाई देता है। फिर नूपुर-निनादित पदों से, अन्यान्य आभूषणों के रणन-झणन के साथ, झूला झूलने, पैंगें भरने, गुनगुनाने और 'हिन्दोल' लगाने की आवाज आती है:]

मैं झूलूँ, तुम श्याम, झुलाओ!
मैं गाऊँ 'हिन्दोल' दोल पर,
छेड़-छेड़ तुम मुझे रुलाओ!
बलि जाऊँ अलि-सी अलकों पर,
कमल-पंखड़ी-सी पलकों पर,
मुरली का मधु-नाद जगा कर
मेरे पागल प्राण सुलाओ!
यह यमुना-तट, देख वंशी-वट,
यहीं फूटने दो जीवन-घट!
मुक्ति भटकती मिले विजन में,
अपने मन में मुझे बुलाओ!

[संगीत के सम्मोहन से राजा, रानी, विदूषक अवाक् हो जाते हैं।]

भैरवानन्द

इस दोला-लीला में राजन्,
दृष्टि आपकी रमी हुई है!
यही देखते जाते रवि के
घोड़ों की गति थमी हुई है!!
है न ठीक?

राजा

हाँ, योगिराज!
प्रभु तो नामी अन्तर्यामी हैं!
क्या देवी के ही गुरुवर हैं?
हम सब भी चिर-अनुगामी हैं!

भैरवानन्द

देख चुके दृग भर मन की छवि?
महाराज, इसको जाने दूँ?
कीचड़ में जो कमल खिला है,
उस पर सुर-सौरभ छाने दूँ?

राजा

जैसी इच्छा हो गुरुवर की!
यह क्या मेरे रोके रुकती?
अपने मधुवन की मधूलिका,
नवविवाहिता है यह युवती!

भैरवानन्द

[सम्मोहित तरुणी से]

सुन्दरता की झूले पर थी
महाराज ने झाँकी चाही,
वह मनचाही उन्हें मिल गई,
चमत्कार मेरा चमका ही!

भोले मन के बिना प्रणय में
आ सकती ही नहीं सरलता!
राजनीति की प्रकृति कुटिल है,
उसे मोहती चपल तरलता–

जो कि लहर पर लहर उठाए,
जिसका चञ्चल अञ्चल फहरे,
सित चितवन में बिजली कौंधे,
केश-अटा पर नव धन घहरे!

तुम वनदेवी-सी पावन हो,
नयन तुम्हारे झुके-झुके हैं!
सरल और कोमल उर के सुर
अधरों ही पर रुके-रुके हैं!!

गोपवधू, तुम हो प्रणम्य, मैं
अधम, पतित, योगी, जादूगर!
करतब दिखलाता फिरता हूँ
जब-तब घूम-घूम कर घर-घर!

जाओ, इस हल्के झूले पर
पेंग लगाती-सी, उड़ जाओ,
तृप्त हुए सब तुम्हें देख कर,
जाओ, जीवन का फल पाओ!

[झंकृत पदों से चलने, झूले पर उचक कर बैठने की आवाज]

भैरवानन्द

अच्छा राजन्, बूरा न मानें,
आज वनस्तोत्सव का दिन है!
केवल नारी के चिन्तन से
अन्तर चञ्चल, वदन मलिन है!!

अब भी आप कल्पना करते
किसी किशोरी की मनभावन!
राजोचित यह बात नहीं है!
दृष्टि नहीं यह सुन्दर, पावन!

सदा नहीं तो कभी-कभी ही
प्रजा-जनों का हितचिन्तन भी–
करना समुचित; तरना समुचित
दु:ख-गहन उनका नभ-मन भी!

नारी-चक्र नहीं नरपति के
गौरव के अनुकूल कभी भी,
बिना कँटीली डाली के क्या
खिलते पाटल फूल कभी भी!

अस्तु, अभी तो प्रस्तुत केवल
राजकुमारी को प्रकटाना,
हाय योग! लग राज-काज में,
तुझे स्वयं क्या खोना, पाना?

विदूषक

[उतावले स्वर में]

रुकें योगिवर! ठहरें गुरुवर!
तनिक पूछ लें महाराज से!
और महारानी से, जिनका
होगा जीवन जटिल आज से!
क्योंकि मानसी राजकुमारी
कौतुक की ही वस्तु न होगी!

राजा

[गिड़गिड़ा कर]

शान्त विदूषक, महाध्यान में
डूबे हुए हमारे योगी!

भैरवानन्द

[ध्यान करते हुए–"ओउम् ह्रां, ह्री, ह्रूँ, फट् स्वाहा" कह कर]

विश्वमोहिनी, इन्दु-सुन्दरी,
सिन्धु-नन्दिनी की प्रिया सखी!
राजाश्रित योगी के यश की
प्रकटो मङ्गल-मूर्ति अनलखी!

[पृष्ठभूमि में विविध वाद्य बज उठते हैं। कतिपय नारी-कण्ठ 'कुन्तल राजकुमारी मञ्जरी की जय' कहते हैं। अलङ्कार-झङ्कार से युक्त पद-चाप मञ्जरी के आकाश से उतरने और चलने का आभास देती है]

द्वितीय दृश्य

[महारानी 'राजकुमारी मञ्जरी' को बन्दिनी बनाकर एक निभृत कक्ष में रखती हैं। आधी राद के समय राजा विदूषक की सहायता से कक्ष के बहिर्द्वार तक पहुँचता है। वहाँ एक उष्ण उच्छ्वास के साथ कहता है:]

रूप-सुधा वसुधा पर बरसी,
सुन्दरता का सावन सरसा!
नयन-नयन रस-परवश, उन्मन–
केवल मेरा ही मन तरसा!!

विदूषक

वैसे रूप और ऐसा मन,
यह निष्ठुर परिहास विधाता!
दो 'अबोध' हृदयों का होता–
अन्त; वसन्त उदास विधाता!!

[प्रसन्न होकर]

महाराज, मधुकरी आपकी
कुछ गुनगुन-गुनगुन करती है,
श्रवण कीजिए ध्यान लगा कर,
अर्थ हो न हो, मन हरती है!

[घर के भीतर से 'तिलक कामोद' गुनगुनाती हुई मञ्जरी का सजल स्वर सुनाई देता है:]

क्यों पागल प्राणों में आए!
रुँधा कण्ठ, काँपा स्वर थरथर,
क्यों अनगढ़ गानों में आए!

जो कुछ देखा, सपना ही था,
क्या दुर्लभ, जग अपना ही था,
किन्तु अन्त में तपना ही था,
क्यों विस्मृत तानों में आए!

राजा

दीप जल रहा भीतर घर में,
बाहर भरा अँधेरा!
बलि जाने की हौंस लिए
व्याकुल पतग ने टेरा!
रूपसि, खोलो द्वारा, द्वार को
सरल प्यार न घेरा!
कैसा कोमल हृदय तुम्हारा,
क्यों मुझसे मुँह फेरा?

[द्वार खटखटाता है।]

मञ्जरी

[चौंक कर]

कौन? महारानी? बतलाओ,
क्या है दोष हमारा?
अब क्या करना चाह रहा है
दुर्दम रोष तुम्हारा?

[फिर 'खट्-खट्' शब्द सुनाई देता है। मञ्जरी उत्तेजित स्वर में]

नहीं महारानी, हमको है–
सहज घृणा परिणय से!
और, करो विश्वास, हमारा–
परिचय नहीं प्रणय से!!

तुम अपने अञ्चल से बाँधो
महाराज–चञ्चल को!
पर कर दो तो मुक्त तपोवन–
तन को, हृदय अचल को!!

[खटखटाहट बढ़ती जाती है। मञ्जरी आक्रुष्ट स्वर में]

हम क्या कहें, महारानी हो!
अपना विरद सँभालो!
हम तो बिना स्नेह के दीपक,
क्योंकर हमको बालो?

इष्ट जलाना हो, तो बन्दी–
घर में आग लगा दो,
और हमारे शुभ्र भस्म के
दो सम भाग लगा दो,

एक भाग दो महाराज को,
एक महायोगी को,
'राज-योग' की जय कह देना–
उभय भस्म-भोगी को!

[खटखटाहट में तीव्रता आती जाती है। मञ्जरी अधिक उद्दीप्त स्वर में]

हमें योग-पथ से बुलवाया,
हम कब भोग-पथी थे!
क्या जानें हम योग-ढोंग को,
हम कब धर्म-रथी थे!

अपने महाराज के बदले,
हम को बन्द किया क्यों?
हम तो क्वाँरी किरण, घटा बन–
हमको मन्द किया क्यों?

राजा

सुन्दरि, मैं हूँ मैं,–
पहले तुम मेरा स्वर पहचानो,
फिर जो जानो उचित, खोल दो–
द्वार, कहा भी मानो!

[मञ्चरी हाँफती हुई दरवाजे के निकट आकर 'तुम महारानी!' रुआसे स्वर से पूछती है।]

राजा

यहाँ कहाँ रानी? रानी की
आँख बचा कर ही तो–
आया; यहाँ भरी बैठीं तुम,
संग-संग अब रीतो!

मञ्जरी

[व्यंग तथा विस्मय से स्वगत]

अरे पुरुष का स्वर! तो क्या हैं
महाराज ही बाहर?
प्रणय-पाश में मृगी फाँसने
निकले हैं नर-नाहर!

[प्रकट]

महाराज, हो क्षमा,
महारानी में क्या अवगुण है?
उन्हें छोड़ क्यों रहे? हुई
कैसी सवार यह धुन है?
ध्यान-विमान चढ़ा कर हमको
कृपया भिजवा दें घर!
बरस रहा रस यहाँ, हमारे–
घर पर वज्र गिरा कर!

राजा

[गिड़गिड़ा कर]

मेरे मन-मन्दिर की देवी,
कुन्तल राजकुमारी!
वचन-वाण से और न बेधो,
ओ शिरीष-सुकुमारी!

मञ्जरी

महाराज, पहले हम नारी,
फिर हैं राजकुमारी!
यह अपमान महारानी का,–
हों हम स्वेच्छाचारी!

राजा

मित्र-राज्य की हो तुम,
माता-पिता नहीं रोकेंगे!

मञ्जरी

हम न किन्तु अपनी आँखों में
स्वयं धूल झोंकेंगे!

राजा

ऐसा क्या अवगुण दिखता है
मुझसें, राजकुमारी?

मञ्जरी

आप रहेंगे महाराज,
रान होंगी बेचारी!
हम असमय में फूल उठें
निर्गन्ध? पवन वनचारी–
छोड़ उसाँस जाय बह चुपके?
बलिहारी! बलिहारी!!

[राजा मूर्च्छित हो जाता है]

विदूषक

यह क्या कर डाला निर्दय हो,
कुन्तल राजकुमारी!
महाराज को मार दिया?
मति गई तुम्हारी मारी!

मञ्जरी

[आहत स्वर में]

क्या कहते हो, आर्य्य विदूषक?
महाराज मूर्च्छित हैं!
बाहर से है बन्द द्वार, हम
भीतर कुण्ठित, मृत हैं!

[सँभल कर]

योगिराज को और महारानी को शीघ्र बुलाओ;
महाराज को, जैसे भी हो, तुम इस बार बचाओ!

विदूषक

[गद्‌गद होकर]

'जैसे भी हो?'–राजकुमारी,
भाग्य खुल गया तब तो!

[चुटकी बजा कर]

महाराज को अभी जिलाता, तुम
देखो करतब तो!

['महारानी–महारानी, योगिराज–योगिराज' पुकारता हुआ विदूषक चला जाता है।]

मञ्जरी

[पृष्ठभूमि में हमीर का राग-विस्तार : क्रमशः शब्द सँवरते हैं–]

हमने यह क्या कर डाला?
प्यास सुधा की लिए हुए को–
पिला दिया विष का प्याला!
प्रेमी मन तो कोमल होता,
हँसते-हँसते भी है रोता,
ऐसी मरण-बाँसुरी फूँकी,–
धधक उठी जीवन-ज्वाला!
हमने यह क्या कर डाला?

[वाद्य द्वारा दूसरे अन्तरे का वातावरण धीरे-धीरे बदलता है।]

राजा

[सहसा चेतना में आकर]

कहाँ पड़ा मैं यहाँ अकेला!
मरने की यह सुन्दर बेला!
मेरे शव को पहना देना–
सरस आँसुओं की माला!

मञ्जरी

हमने यह क्या कर डाला?
प्यास सुधा की लिए हुए को–
पिला दिया विष का प्याला!

[रानी, योगी, विदूषक तथा परिजनों का समवेदना-सूचक कोलाहल : हाय-हाय! क्या हुआ? क्या हुआ? आदि।]

तृतीय दृश्य

[वाद्य-यंत्रों की झंकार में 'हाँ, महाराज' 'हाँ, महाराज' कहता हुआ एक उल्लसित नारी-स्वर सुनाई देता है।]

राजा

[गम्भीर होकर]

फिर क्या हुआ, कृष्णा, बता,
फूली कली, हुलसी लता?
या बन्द मन्दिर-द्वार है?
नि:शब्द बन्दी प्यार है?

कृष्णा

[रानी की प्यारी चेटी]

यों पूछते हैं आप तब,–
जब तुहिन-शीतल ताप सब!
आमोद की-सी निर्झरी–
जब खिलखिलाती मञ्जरी!
दस दिसि सुवासित कर रही,
जब भुवन भासित कर रही!

रानी 'बहन' कह बोलतीं,–
जब अमृत मद में घोलतीं!
परिचारिकाएँ व्यस्त हैं,
जब सब स्वयं में मस्त हैं!!

राजा

[तरङ्गित होकर]

ऐसा हुआ कैसे? कहो,
आनन्द-सरि, धीर बहो!
है तिर रही जीवनतरी,
उस पुलिन पर सन्ध्या-परी!

कृष्णा

गुरुदेव का जादू चला,
किसका न सिर झुकता भला!
बदला गगन का रंग है,
उल्लास-हास-तरङ्ग है!!

राजा

[आश्वस्त होकर]

रे हृदय, अब क्यों काँपता?
पल-छिन प्रलय-पथ नापता?
सुन, हो रहा क्या गान है!
'निर्माण-नव निर्माण है!'

[हँसती, किलकारियाँ भरती हुई दो और सखियाँ आती हैं।]

दोनों सखियाँ

अब महाराज, पधारिए, सब कुछ वहाँ तैयार है,
क्या ब्याह-मण्डप! इन्द्रधनु-सा तना बन्दनवार है!
मङ्गल-कलश, चौमुख दिए, नव हवन-वेदी प्रज्वलित,
बाजे रहे बज, गा रहीं सखियाँ हुलास-भरी अमित!

[पृष्ठभूमि में वाद्य तथा हास्य]

कैसा सजाया मञ्जरी को राजरानी-रूप में,
अब देखिए ही चाँदनी को खड़े होकर धूप में!
[वाद्य के बाद राग बसन्त सुनाई देता है।]

प्रथम स्वर

तन में फूला बसन्त, मन में अरुणाई!
जीवन में पूनम की छा रही जुन्हाई!!
केसर-कुङ्कम पराग
अङ्ग-अङ्ग अङ्गराग
अपनी छवि निरख आप लेती अँगड़ाई!
तन में फूला बसन्त, मन में अरुणाई!!

द्वितीय स्वर

युगल कमल पर अलिगण
पायल की रणन-झनन
चरण-चरण पर थमती—कैसी ध्वनि आई!
तन में फूला वसन्त, मन में अरुणाई!!

सम्मिलित स्वर

ये कजरारी आँखें
फड़क रही-सी पाँखें!
निर्मल आकाश! सिन्धु की या परिछाईं?
तन में फूला बसन्त, मन में अरुणाई!!

[गीत समाप्त होते-होते हँसी-किलकारी की लहर]

राजा

[स्वगत]

स्वप्न रहा मैं देख? सत्य का तो रहता मुँह सूखा!
क्या सदेह मञ्जरी मिलेगी? मैं न भाव का भूखा!

ओ बसन्त, तू है उन्मादक, यह सब तेरी माया?
ऐसा पुण्य कहाँ कि मञ्जरी की मैं छूता छाया!

[हीही-हीही करता हुआ विदूषक आता है।]

राजा

कहो विदूषक, अन्तःपुर से हो तुम सीधे आए?
देर न करूँ, चलूँ जल्दी, क्या यही सँदेसा लाए?

[चिन्तित स्वर से]

क्यों तो बाईं आँख फड़कती, और धड़कती छाती!
कहो-कहो प्रिय, सकुशल तो है योगिराज की थाती?

विदूषक

[बनावटी हँसो हँस कर]

मुझे महारानी ने भेजा, मैं अबध्य ब्राह्मण हूँ,
ऊँच-नीच मुँह से निकले तो क्षमा करें, निज जन हूँ!
ईश्वर की लीला अद्‌भुत है, कुछ से कुछ है होता,
यह असार संसार, यहाँ पर जो हँसता सो रोता!

राजा

[चिढ़ कर]

यह कैसा परिहास, विदूषक!
क्या प्रलाप बकते हो?
करो काम की बात, नहीं तो–
चुप भी रह सकते हो!

विदूषक

मुझे महारानी ने भेजा है सब कुछ कहने को,
प्रखर धार में सत्य-सिन्धु की, निराधार बहने को!
पर कहने में भय लगता है....

राजा

सत्य अभय होता है!
दया करो ईश्वर के हित....

विदूषक

ईश्वर निर्दय होता है!

राजा

तो क्या मञ्जु मञ्जरी मेरी....

विदूषक

नहीं, अदृष्ट, अनूठी!

राजा

मण्डप की शोभा बढ़ा रही?

विदूषक

नहीं, आपसे रूठी!

राजा

ऐसा क्यों? कोई न मनाता?

विदूषक

सब सुहागिनें हारीं!

राजा

फिर क्या होगा?

विदूषक

होगा क्या!
हैं आप पुरुष, वह नारी!

बल भी चल सकता है,
यों तो रानी वहाँ गई हैं!
क्या समझातीं, श्रवण कीजिए,
नई घटा उनई है!

चतुर्थ दृश्य

[सितार पर वृन्दावनी सारंग की सरगम गत बजाकर दृश्य तथा भाव के गत्यात्मक अन्तर का आवेदन]

मञ्जरी

क्यों हमें स्वीकार हो यह ब्याह?
कुछ हमारे हृदय में भी चाह!
बालपन से किए ब्रत-उपवास,
इसलिए–हो जाय सत्यानाश?
आपका गौरव, अतुल सौभाग्य,
क्यों तुले उससे हमारा भाग्य?
भुवन के वन के विटप वे अन्य,
लिपट लतिका से हुए जो धन्य!
और मरु-तरु भी, न जिसके बेल,
हम उसी से क्यों न कर लें मेल?
हम अँधेरे में भरें आलोक,
दीप का क्या काम! यह रवि-लोक!

रानी

मैं तुम्हें अनुजा समझती मञ्जरी,
इसलिए कैसे कहूँगी–'किन्नरी'?
किन्तु यह तो सत्य, तुम हो सुन्दरी,
मैं बरस कर हूँ चुकी, तुम हो भरी!

महाराज तुम्हें हृदय से चाहते,
और मेरे धर्म को हैं थाहते!
मैं विरोध करूँ भला किसके लिए?
नाशवान शरीर यह,—इसके लिए?

मञ्जरी

है शरीर शरीर का क्या अन्त?
कुछ चिरन्तन! कुछ नहीं कि अनन्त?

कुछ नहीं कर्तव्य अथवा प्रेम?
कुछ नहीं आदर्श, संयम, नेम?

क्यों हमें उल्टी दिखातीं राह?
यह अवाञ्छित, यह असह्य विवाह!

रानी

मैं तुम्हारी बात कब हूँ काटती!
बस किसी विध गर्त ही हूँ पाटती!

मानतीं क्या तुम नहीं युग-धर्म को?
शास्त्र-वर्म—कुलीनता के मर्म को?

क्या हमारे देश के राजे कभी—
बहु-विवाह-व्रती नहीं थे?

मञ्जरी

पर सभी—
थे विवाह-महारथी क्या, हाय?
रूप के भौंरे, विलास-सहाय?

देश और समाज का कल्याण—
तब कहो किस भाँति हो, भगवान?

[लज्जा-मज्जित स्वर से]

महारानी, और–कोई और–
है हमारे हृदय-धन का चौर!

हम धरोहर दूसरे की, आज–
जायँ लुट किस भाँति? लगती लाज!

[लज्जा-मज्जित स्वर से]

महारानी, और–कोई और–
है हमारे हृदय धन का चौर!

हम धरोहर दूसरे की, आज–
जायँ लुट किस भाँति? लगती लाज!

[उत्तेजित होकर स्वगत]

कहाँ नारी! आज वह अभिमान?
सती सीता ने गँवाए प्राण!

राम को तर्जित करे, वह तेज–
भुल कर, धिक्! फूल की सज सेज!

कमल-कोमल, शूल-कठिन मृणाल–
क्या हुआ?–वह रूप-रक्षक ढाल?

बन पुरुष की वासना का ग्रास,
जी ही पाले मरण की आस!

या कि तेरा लक्ष्य मूढ़, विलास?
स्वप्न-मधुवन में रचाना रास?

[सहसा एक चेटी का प्रवेश : भय से बिखरे स्वर में, हाँफती हुई]

चेटी

महारानी, महारानी, आइए,
मञ्जरी को शीघ्र सब समझाइए,
युद्ध दुन्दुभि जा रही बजने अभी,
सैन्य चतुरंगी–लगे सजने सभी,

राज्य दोनों नष्ट होंगे, और क्या?
प्रिय प्रजा को कष्ट होंगे, और क्या?

[पृष्ठभूमि में दुन्दुभी बजती, घोड़ों की हिनहिनाहट सुनाई देती है।]

रानी

[घबरा कर]

मञ्जरी मेरी, बताओ—क्या कहूँ?
है परिस्थिति जटिल, कैसे चुप रहूँ?

ठोस जीवन के निराले ढंग हैं!
भावनाओं के स्वयं के रंग हैं!!

मञ्जरी

[सस्मित व्यङ्ग से]

क्यों महारानी? कहें क्या और?
काँपता आकाश-मण्डल सौर!

जा रही धरती धँसी दे शाप,
खौलता पाताल, पकता पाप!

ताप इतना हम सहें, क्या शक्ति?
ब्याह से ऐसी हमें न विरक्ति!

है हमें सम्बन्ध यह स्वीकार,
युद्ध क्यों, हो ब्याह की जयकार!

रानी

[हर्ष से]

तब चलो, मण्डित करें मण्डप सभी,

मञ्जरी

[तत्परता से]

क्यों नहीं? पर आप, पलभर को सभी
छोड़ दें हमको यहाँ एकान्त में,
'भेद क्या पति देव, प्रियतम कान्त में

–हृदय से झटपट निपट लें! किसलिए–
आप सब को कष्ट इतने हैं दिए!'

[चेटी 'महाराज की जय हो' कहती पायल बजाती हुई दौड़ जाती है; किन्तु सहसा पाँव रपट जाने से गिर पड़ती है।]

विदूषक

[हँसता हुआ]

मैं न विदूषक, मैं न मनसुखा,
मैं तो हूँ षड्यन्त्री,
राजा चन्द्रपाल की जय हो,
मुझे बना लें मन्त्री!

और आज के मन्त्री को
दे अर्धचन्द्र बिलगाएँ,
अथवा मेरा ही पद दे दें,
सुर-नर-मुनि यश गाएँ!

राजा

[कहकहे लगा कर]

शैल-शृङ्ग चढ़कर ज्यों नन्दी,
गुफा फोड़ कर नाहर,
ही दहाड़ते, गला फाड़ते
लम्बोदार सटका कर!
हुई बात क्या बौड़म, बोलो,
गए मुझे अटका कर,
मक्खी-सी आँखें मटका कर,
मुण्ड शिखा झटका कर!

विदूषक

[गम्भीर होकर]

बात बोलने की जो होती,
वह भी कोई बात ही!
हँस कर झेले पीड़ा जिसकी,
वह भी कोई घात ही!

आज बात की बात में हुई
बात लक्ष दीनार की,
मेरी बुद्धि तनी, चूड़ा
झुक गई अटल मीनार की!

[हँसता है।]

राजा

यह प्रहेलिका या कुहेलिका,
ठेठ न आता बोलना?
मँडलाते हैं गीध; गरुड़–
को ही आता पर तोलना!

मारीं कितनी आज मक्खियाँ?
क्या वे संख्यातीत हैं?
तभी तुम्हारे यश के गाती
पौरनारियाँ गीत हैं!

आज अनोखी चहल-पहल है,
मैं भी सोचूँ, बात क्या!
धन्य विदूषक! हुआ समर में
क्षत-विक्षत है गात क्या?
रंग-राग मैं स्वयं लगाऊँ
आज तुम्हारे अंग में!
और बिठाऊँ कवच सजा कर
सेनापति के संग में!

[हँसता है]

विदूषक

अच्छा महाराज, बतलाएँ,
झुकी मञ्जरी आप है?
मेरी राजनीति से ही या
कटा यक्ष का शाप है?

मैंने चेटी से कहलाया–
"सावधान हो मञ्जरी!
राज्य पिता का हो बचा रही
डुबो रही हो या तरी?

राजा चन्द्रपाल को वर लो,
कर लो पूरी कामना!
और नहीं तो कहो पिता से
करें हमारा सामना!"

रामवाण-सा लगा मञ्जरी को,
कैसी आहत हुई!
काम-वाण से बिंधा हृदय ज्यों,
नयन मूँद कर नत हुई!
[हँसता है।]

राजा

इसीलिए तुम सहसा उठ कर,
और कहीं थे चले गए!

विदूषक

महाराज ने समझा होगा,
—भले गए, तुम भले गए!!
[दोनों देर तक हँसते रहते हैं।]

पञ्चम दृश्य

[शून्य कक्ष : वायलिन में गौड़ सारंग की एक सरगम गत : 'ठोस जीवन' वाली रानी की सम्मति की याद कर]

मञ्जरी

मरण या जीवन? क्षितिज अनजान!
शेष पथ बलिदान ही है प्राण!

हो विलास-परम्परा का अन्त!
सजल पावस में विलीन वसन्त!!

घुटन, तड़पन, मरण सौ-सौ बार!
ठोस जीवन? खोखला व्यापार!!

खो रहा विस्तार का आकाश!
ठोस जीवन? कमठ-पृष्ठ-विकास!!

उजड़ता आनन्द का आवास!
ठोस जीवन? आमरण उपवास!!

मुरझता मन-सुमन; मन्द सुवास;
ठोस जीवन? श्वास का उपहास!

मिट रहा रस-भाव, स्वत्व-प्रकाश;
ठोस जीवन? नियम-यम का पाश!
ठोस जीवन लो, हमें दो प्यार!
ठोस जीवन लो, हमें दो मार!!

कर्णधार यही—यही मझधार,
ठोस जीवन को डुबो, दो तार!

भावना मरती, यही क्या त्राण?
हृदय में तड़पे, यही क्या प्राण?

मृत्तिका का पिण्ड प्रकट प्रमाण,
ठोस जीवन? नाश का निर्माण!

काल-माली, स्थान है सुनसान,
तोड़ ले ये प्राण कुसुम-समान!

[हँस कर]

तुम खिलो कलियो, खिलो निष्पाप!
हम अकेले ही झड़ें चुपचाप!!

[उन्मथित-उत्तेजित स्वर से]

यह, परन्तु उषा-निशा का संग,
यह जलधि की सरल-तरल तरंग,

चन्द्र-तारक-खचित नील वितान,
फूटती पहली किरण का गान,–

प्राण रे, इनका न होगा मोह?
सह सकेगा विषम विश्व-बिछोह?

चिर-विदा ले तब प्रकृति से मौन,
निर्विकार प्रणाम कर!

[खिड़की से हवा की आहट]

–तुम कौन?
कौन हो? क्या चाहिए? दो बोल!
अब हमारे पास क्या अनमोल?
स्वप्न हो या सत्य, या उच्छ्वास!
चाहिए तो लो, चरम विश्वास!!

[पूरी शक्ति से कलेजे में कटार घुसेड़ लेती है। तीखी चीख के साथ !आह!' की ध्वनि-प्रतिध्वनि गूँज जाती है। सहसा भयानक रूप से आँधी आती है; बादल गरजते हैं; बिजली कड़कती है। सन्-सन्-सन् हवा खिड़कियों और द्वारों को झकझोर देती है। विविध वाद्यों के कोलाहल से वातावरण विक्षुब्ध हो जाता है। दो तरुणियाँ घबराई हुई एक-दूसरे से पूछती हैं।]

पहली– कुन्तल की राजकुमारी को–
देखा कि मञ्जरी प्यारी को?

दूसरी– क्यों? वह तो अन्तःपुर में थीं!
गुनगुना रही कुछ सुर में थीं!
क्या हुआ कि तुम घबराई हो?
क्या हुआ? किधर से आई हो?

[दूसरी ओर से बालिकाओं का एक दल विकल कण्ठ से पूछता आता है।]

पहली– कैसा कोलाहल है? क्या है?

दूसरी– क्या किसी ने नहीं देखा है–
कुन्तल की राजदुलारी को?

तीसरी– फूले फूलों की क्यारी को?

[खड़ाऊँ की आवाज सुन कर]

पहली– हे योगिराज, देखा है क्या?
क्या है भावी, लेखा है क्या?

दूसरी– जगमगा रहा है सौध-सदन;
वह रूप-घटा, वह बिज्जु-नयन–
कैसे छिप कर रह सकती है?

रानी

[एक भागी आती हुई चेटी से]
कमला, तू कुछ कह सकती है?

कमला

हो गया अनर्थ महारानी!

रानी

हाँ, असमय में बरसा पानी!

कमला

अम्बर में दुख का मेघ घिरा,
आँसू बरसा, औ' वज्र गिरा!
मञ्जरी रही न महीतल में!!

रानी

[चीख कर]
लग गई आग जीवन-जल में!
क्या खड़ी-खड़ी मुँह तकती हो?

योगी

रानी, तुम क्या मर सकती हो?
क्रन्दन-कोलाहल से फिर क्या?
नश्वर जग में कुछ भी स्थिर क्या?

[अनुतप्त स्वर में]

मञ्जरी गई, मैं भी जाता,
अपनी करनी पर पछताता!

पर पछताने से होता क्या?
पाषाण-प्राण यह रोता क्या?

जैसा हँसता था, हँसता हूँ,
मैं राजकुलों को डँसता हूँ,
मञ्जरी गई, राजा तड़पे,
कामी का धन कोई हड़पे!

प्रतिशोध पिता ले क्वाँरी का,
जग देखे तेज कि नारी का!

[अभिभूत-सा]

मञ्जरी, तुम्हें मैंने मारा,
मैं पतित, अधम, मैं हत्यारा!

कोई क्यों मुझको क्षमा करे!
योगी अपने में रमा करे!!

सस्ते यश को न मरे कोई!
मरने से नहीं डरे कोई!!

['भैरव-भैरव' कहता हुआ समाप्त हो जाता है।]

रानी

[आर्त्त स्वर से]

अब क्या होगा, हे महाराज?
मञ्जरी मरी औ' योगिराज–

हम सब को तज कर चले गए!

राजा

तुम समझ रहीं–हम छले गए?

इस गर्व-योग्य मैं रहा कहाँ!
यों रहने आया कौन यहाँ?

कोई आगे, कोई पीछे,
आखें खोले, आँखें मीचे,

सब के सब जानेवाले हैं,
कर मल पछतानेवाले हैं?

[उन्मत्त-सा]

मञ्जरी, मञ्जरी मरी कहाँ?
मैं बीच-सिन्धु, वह तरी कहाँ?

मञ्जरी, मरूँ मैं, खेद नहीं!
'हो हम दोनों में भेद नहीं',–

यह उचित नहीं आपाआपी;
कोई धर्मी, कोई पापी–

गति हो समान क्यों दोनों की?
तुम स्वर्लोकी, मैं भूलोकी!

मैं जिऊँ और सौ बार मरूँ!
मैं हार-हार हर बार मरूँ!!

....

है मृत्यु विजय बलिदानी की!
परिणति करुणा कल्याणी की!!

[वाइलिन पर एक करुण मीड़ के साथ समाप्ति।]

❑

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

जन्म : जनवरी, सन् 1916 ई., माघ शुक्ल द्वितीया, बुधवार को दक्षिण बिहार, गया जिला, मैगरा गाँव के एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार में।

शिक्षा : 1931 तक अपने पूज्य पिता के श्री चरणों में, 1932 से 1938 तक काशी विश्वविद्यालय में। इस बीच बिहार-उड़ीसा से साहित्याचार्य और ढाका (बंगाल) से साहित्य रत्न तथा काशी से शास्त्री एवं शास्त्राचार्य की उपाधियाँ प्राप्त कीं। फिर बिहार से 1940 में वेदान्तशास्त्री तथा 1941 में वेदान्ताचार्य की उपाधियाँ प्राप्त कीं। प्रत्येक परीक्षा में सर्वप्रथम रहे तथा अनेक स्वर्ण पदक प्राप्त किये।

जीवन : विद्योपार्जन के साधन के अभाव में 1938 से ही नौकरी शुरू कर दी। सर्वप्रथम लाहौर में अध्यापन, फिर रायगढ़ (सी० पी०) में राजकवि के रूप में नियुक्ति। इसके बाद 1940 से 44 तक मुजफ्फरपुर में प्राइवेट ट्यूशन आदि द्वारा जीविकोपार्जन। 1944 से 1952 तक गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, मुजफ्फरपुर में साहित्य विभाग के अध्यक्ष। अब 5 जनवरी, 1953 से रामदयालु सिंह कालेज, मुजफ्फरपुर में हिन्दी-संस्कृत के प्राध्यापक हैं।

साहित्य : 1931 से हिन्दी-संस्कृत में लिखना आरम्भ किया। 1935 में निराला जी से परिचय तथा उन्हीं की प्रेरणा से गद्य-पद्य लेखन तथा 'माधुरी' के माध्यम से हिन्दी क्षेत्र में प्रवेश। काव्य-काकली (संस्कृत), रूप-अरूप, गाथा, तीर-तरंग, शिप्रा, अवन्तिका, मेघगीत, उत्पलदल, गीतवितान, कहानी-कानन, अपर्णा, लीला कमल, निबन्ध आलोचना-साहित्य दर्शन, त्रयी, चिन्ताधारा, प्राच्य साहित्य, स्थायीभाव और सामयिक साहित्य।

पाषाणी

आचार्य जानकीवल्लभ श